गांधी-मार्ग

*

मई-जून 2026



हम तो ये बात जान के हैरान हैं बहुत

खामोशियों के शोर में तूफ़ान हैं बहुत

• महात्मा गांधी • देवदत्त पटनायक • मौलाना मदनी
• पुण्य प्रसून वाजपेयी • ए. जे. फिलिप

गांधी इतिहास नहीं
वर्तमान और भविष्य भी हैं...



वर्तमान को समझिए... भविष्य को बनाइए!

*

गांधी शांति प्रतिष्ठान से जुड़िए.

हमारे केंद्र :

०भागलपुर ०जोधपुर ०पटना ०भुवनेश्वर ०जमशेदपुर ०जम्मू ०मुजफ्फरपुर ०इंदौर ०कौसानी ०कानपुर ०भद्रक ०राउरकेला ०बैंगलूरू ०धारवाड़ ०कोचिन ०कालिकट ०त्रिवेंद्रम ०त्रिशूर ०अहमदाबाद.

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 68, अंक 3, मई-जून 2026



गांधी शांति प्रतिष्ठान

*

आवरण : जब सागर भीतर से खौलता है तब सतह पर दिखाई नहीं देता है. उसकी क्षुब्धता सतह पर तब दिखाई देती है जब सागर फूट पड़ता है. जनमानस भी सागर की तरह ही होता है. उसके अतल में जो कुछ घटता है, वह तुरंत दृश्य नहीं होता है. जब होता है तब हवा बदल जाती है, आसमान बदल जाता है, धरती में बिजली दौड़ पड़ती है. **ऋतु सिंह पांडेय** के तैल, एक्रिलिक तथा दूसरे माध्यमों से बनाई यह पेंटिंग आज हमारे जनमानस के अंदर घुमड़ती उसी लहर को दर्ज करती है. अंक सज्जा की है **मुकेश गेरा** ने.

वार्षिक शुल्क : भारत में 200 रुपये, दो वर्ष के 350 रुपये, आजीवन-1000 रुपये (व्यक्तिगत), 2000 रुपये (संस्थागत), एक प्रति का मूल्य 20 रुपये, डाक खर्च निःशुल्क. दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें. अपना शुल्क चेक, बैंक ड्राफ्ट, मनीऑर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें. ऑनलाइन भुगतान के लिए केनरा बैंक खाता नं. 0158101030392 IFSC CODE : CNRB 0000158.

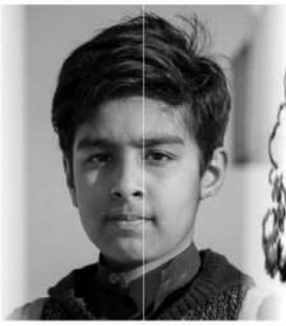
संपादन : कुमार प्रशांत **प्रसार :** भगवान सिंह

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002 के लिए अशोक कुमार द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, **Email:** gmhindi@gmail.com

मुद्रक : नीता प्रेस, 3574- गली जटवारा, नियर सबलोक क्लीनिक, दरियागंज, दिल्ली-110002, फोन नं. 8800646548

शुरू में...





मेरे बच्चो....

इतने धार्मिक मत होना
कि ईश्वर को बचाने के लिए
इंसान पर उठ जाए तुम्हारा हाथ

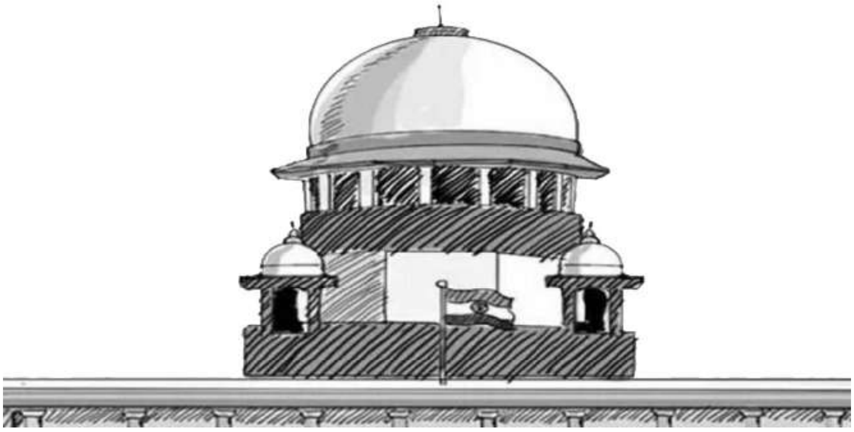
न कभी इतने देशभक्त बनना
कि किसी घायल को उठाने को
झंडा जमीन पर न रख सको.

○ कविता कादंबरी



परिदृश्य

हम तो यह बात जान के हैरान हैं बहुत
खामोशियों के शोर में तूफान हैं बहुत



सर्वोच्च न्यायालय के सामने युवा बैरिस्टर मोहनदास करमचंद गांधी... जैसे गांधी की अदालत में न्यायपालिका का मुकदमा पेश हुआ है! कुछ अजीब-सा आलम है देश में कि सवाल हर तरफ हैं, जवाब कहीं से नहीं आता! ऐसा संवादहीन लोकतंत्र मानो ज्वालामुखी के मुंह पर बैठा है. ऐसे में हमारी न्यायपालिका आंख-कान-मुंह सब बंद कर जिस तरह बैठी है, वह बेचैन करने वाला है. यह बेचैनी भी कई स्तरों पर है, सब तरफ है. लगता है, जयप्रकाश ने सन् 74 में क्षितिज पर घुमड़ता जो सन् 42 देखा था, वह फिर से घनीभूत हो रहा है. कवि आलोक श्रीवास्तव की जिन पंक्तियों से हमने इस अंक व आलेख का शीर्षक बनाया है, वे पंक्तियां भी यही कहती हैं



हमारे पांच राज्यों में चुनाव क्या हुए कि उनके नतीजों ने पचासियों सवाल खड़े कर दिए हैं; और हर सवाल ऐसे कि जिनके जवाब हमारे अब तक के लोकतांत्रिक इतिहास में खोजे नहीं मिलते हैं. ऐसे सारे सवाल अखबारों की सुर्खियों से भी गायब हैं, क्योंकि अखबार जैसा जो हमारे यहां कुछ बचा है, उनकी सुर्खियां अब बनती नहीं हैं, बनी-बनाई मिलती हैं. ऐसे ही मिलते हैं वे सारे लोग जो बगैर किसी गहरी विशेषज्ञता के विशेषज्ञ घोषित कर दिए जाते हैं. सारे सवाल इन दो पाटों के बीच पिस रहे हैं.

अगर ऐसा नहीं होता तो ऐसा कैसे होता कि चुनाव में अधिकाधिक मतदाता भाग लें, इसकी युक्ति निकालने की जगह चुनाव आयोग वह रास्ता निकाल लाता जिससे कम-से-कम मतदाता चुनाव में हिस्सा ले सकें? एसआईआर या 'सर' इसी काम के लिए ईजाद की गई वह अनैतिक व असंवैधानिक युक्ति है जिसका पूरा श्रेय सरकार व आयोग के बीच की जुगलबंदी और न्यायालय की मसखरी चुप्पी को जाता है.

देश की मतदाता सूची बनाना, उसे जांचते व सुधारते रहना चुनाव आयोग का - एकमात्र चुनाव आयोग का - दायित्व है. एक से दूसरे चुनाव के बीच का सारा समय इस आयोग के पास संविधान द्वारा दिया दूसरा कोई काम नहीं होता है कि वह अपनी मतदाता सूची को पाक-साफ बनाए. अगर उसने ऐसा नहीं किया तो वह अयोग्य भी है और अपराधी भी. अगर वह घुसपैठिए का तर्क देता है तो उसे देश को बताना ही पड़ेगा कि उसने कब, कहां, किससे इसकी शिकायत की कि फलां सरकार मतदाता सूची को अपने राजनीतिक हित में दूषित कर रही है? लेकिन अचानक नींद से जागे किसी शराबी की तरह वह मतदाताओं पर टूट पड़े और सरकार उसे ऐसे मतदाता-संहार की इजाजत दे दे तो यह नितांत अनैतिक व असंवैधानिक है. संविधान कभी भी और कहीं भी चुनाव आयोग को ऐसा अधिकार नहीं देता है. संवैधानिक दायित्व के पद पर बैठा कोई भी व्यक्ति या संस्थान असंवैधानिक व अनैतिक रास्ते पर चल पड़े तो सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि उसके हाथ बांध दिए जाएं.

ऐसी हाथबंदी कौन कर सकता है?

लोकतांत्रिक प्रक्रिया के विकास में ऐसी उलझी हुई स्थितियां बड़े काम की होती हैं. उनसे

उपवास

कोलकाता के मतियाबुर्ज में 68 साल के जीतेंद्रनाथ नंदी 12 घंटे के उपवास पर बैठे थे. पानी की एक बूंद भी नहीं. कभी मजदूर यूनियन में सक्रिय रहे जीतेंद्रनाथ एक स्थानीय अखबार के संपादक भी रहे. फिर सबसे मुंह मोड़ लिया और गांधी के काम से खुद को जोड़ लिया. चुनाव आयोग ने जैसे ही बंगाल में 'सर' की गतिविधि शुरू की, जीतेंद्रनाथ के कान खड़े हुए. उन्हें लगा कि चुनाव आयोग का बुरका पहन कर यह मतदाताओं को बौना बनाने का अभियान है.

उन्होंने अदालत के निर्देश को ध्यान रखकर न्यायालय के आदेश को बने विशेष प्राधिकरण तक मतदाताओं के आवेदन पहुंचाने का प्लेटफॉर्म बनाया और हर उस मतदाता की मदद में उतर पड़े जिसका नाम मतदाता सूची से इस या उस कारण से काटा जा रहा था. कई लोग उनकी मदद में उतर

संविधान व लोकतांत्रिक नैतिकता दोनों उजागर भी होती हैं और सशक्त भी. लेकिन यहां एक पेंच है. ऐसा तभी हो सकता है जब संवैधानिक प्रावधान व लोकतांत्रिक नैतिकता की उलझनें संवैधानिक प्रक्रिया के भीतर से पैदा हुई हों. जब

आए. कोलकाता हाईकोर्ट के एक वकील ने जीतेंद्रनाथ की अपील को कानूनी ढंग से तैयार कर दिया ताकि वह आसानी से प्राधिकरण में स्वीकार हो सके. करीब ढाई लाख मतदाताओं वाला मतियाबुर्ज मुस्लिमबहुल चुनाव-क्षेत्र है. जीतेंद्रनाथ का अनुमान है कि वहां से 39,000 मतदाताओं के नाम 'सर' के तहत मतदाता सूची से काटे गए हैं जिनमें ज्यादातर मुस्लिम महिलाएं हैं.

''मेरी बेचैनी नाम काटने की उतनी नहीं थी जितनी इसकी थी कि प्राधिकरण के सामने हम जो मामले रख रहे हैं, उनका क्या होगा? आयोग की सूची में नाम कट गया लेकिन सर्वोच्च न्यायालय द्वारा गठित प्राधिकरण ने उसे सही बताया तो क्या होगा? वे वोट कैसे दे सकेंगे? उनके बच्चों को स्कूल में एडमिशन मिलेगा? उनको मुफ्त राशन मिलेगा? उनको बैंक से कर्ज मिलेगा? जीतेंद्रनाथ को अपने किसी सवाल का जवाब नहीं मिला. उन्होंने 150 से ज्यादा मतदाताओं की अपील दर्ज करवाई थी. उनमें से कोई वोट नहीं डाल सका. सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही बनाए प्राधिकरण को इस तरह खोखला साबित कर दिया, यह जीतेंद्रनाथ सोच भी नहीं सकते थे. कैसा है यह लोकतंत्र, कैसा है यह चुनाव आयोग, कैसी है यह न्यायपालिका! सवालों ने जीतेंद्रनाथ को विचलित कर दियाः ''मुझे याद आया कि जब देश आजादी का जश्न मना रहा था, गांधीजी दिल्ली से दूर इसी कोलकाता के बेलियाघाट में हिंदू-मुस्लिम एकता का सवाल ले कर प्रार्थना व उपवास पर थे. मैंने सोचाः गांधीजी आज होते तो 'सर' जैसी सांप्रदायिक व समाज को बांटनेवाली प्रक्रिया के सामने क्या करते? मैं अपने लोगों के हक में उपवास पर बैठ गया.'' जब बंगाल पोलिया बैसाख का पर्व मना रहा था, जीतेंद्रनाथ उपवास पर बैठे थे. यह तंत्र की बेईमानी के सामने लोक का प्रतिकार था. नरेंद्रनाथ सर्व सेवा संघ की 'एक कदम गांधी के साथ' वाली 56 दिन की पदयात्रा में भी शरीक थे.

उलझनें संविधान को झांसा देने, उसे तोड़-मरोड़ कर अपनी मुट्ठी में कर लेने की पतनशील चालबाजियों से से पैदा हुई हों तब वे दीमक की तरह संविधान व लोकतंत्र दोनों को खोखला करने लगती हैं. ऐसा इसलिए है कि लोकतंत्र अंततः एक नैतिक अवधारण है जिसे संविधान ने कानूनी जामा पहनाया है. नैतिकता तभी तक स्वस्थ व गतिशील रहती है जब तक समाज सजग व सक्रिय रहता है; संवैधानिक संस्थाएं अपनी परंपराओं का अक्षरशः पालन करती हैं तथा विधायिका से फासला बना कर चलती हैं. न्यायपालिका विधायिका के साथ मिलकर जब गणेश आरती करने लगती है तब सब कुछ गुड़-गोबर हो जाता है.

संविधान के निर्माता सावधान थे कि लोकतांत्रिक चेतना व संवैधानिक प्रावधान हमारे लिखे शब्दों से एक हद तक ही सुरक्षित व संरक्षित हो सकते हैं. उनके मन में यह शंका बनी रही कि सत्तालोलुप सरकारें व कायर-चापलूस नौकरशाही के कारण यह खतरा कभी भी उभर सकता है जब लोकतंत्र का ढांचा बना रहे लेकिन उसकी आत्मा का लोप हो जाए. ऐसा जब भी होगा, लोकतंत्र एक बाजारू व्यवस्था भर रह जाएगा जिससे सभी निहित स्वार्थ फुटबॉल खेलेंगे.

दोस्तों से दो बातें...

वैसे तो मेरे वे दोस्त बहुत ज्ञानी हैं मगर उन्हें न जाने क्या सूझी कि उन्होंने मुझसे पूछा कि हमारा तानाशाह जो कुछ कर रहा है, वह सब आज नहीं, कल नहीं, परसों नहीं, बरसों नहीं मगर कभी तो सामने आएगा? पचास साल बाद तो सामने आएगा? मैंने कहा : आएगा और जल्दी ही सामने आएगा. इसने ऐसी स्थिति में अपने को डाल दिया है कि इसका पतन अब कोई ताकत अधिक समय तक रोक नहीं सकती. फिर भी सुविधा के लिए मान लें कि दस बरस बाद यह जाएगा. तब सब कुछ सामने आएगा. सबका कच्चा-चिट्ठा! एक-एक चीज आज दर्ज की जा रही है. इसे वे भी दर्ज कर रहे हैं, जो आज इसके अपने हैं. उनके मन में डर है कि कल पासा पलट गया तो उनका गला भी नापा जा सकता है. कब कौन-सी चिनगारी आग बन जाएगी, यह कोई नहीं जानता!

ऐसा नहीं कि तानाशाह खुद यह बात नहीं जानता है. जानता तो

यहां जन्म हुआ न्यायपालिका की संवैधानिक अवधारणा का! संविधान ने न्याय-व्यवस्था के भीतर ही एक ऐसी न्यायपालिका की संरचना की जो सबसे पहले व अंत तक संविधान के शब्दों की संरक्षक रहेगी तथा संविधान की आत्मा

है मगर फिलहाल उसकी चिंता सत्ता पर अपनी पकड़ को और मजबूत बनाना है, अपने मजबूत विरोधियों को कुचलना है. उन्हें विभिन्न माध्यमों से इतना बदनाम कर देना है कि वे जनता के सामने जाने से भी डरें; और नहीं डरें तो इसका नतीजा भुगतें. हर तानाशाह यह मानता है कि वह इतना कुशल है कि जीते-जी उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा. बाद मरने के उसके बारे में क्या-क्या सामने आता है, क्या-क्या राज खुलते हैं, इसकी उसे चिंता नहीं, क्योंकि वह तो अपनी पारी सफलता से खेल चुका है. उसका सारा खेल, उसकी सारी राजनीति आज के लिए है. उसे आज अपनी छवि बनानी है. वह जानता है कि उसके जीते-जी भी उसकी छवि टूटती रहती है, उसमें वह पैबंद लगाता रहता है. वह जान चुका है कि ईमानदारी से वह चुनाव नहीं जीत सकता. इसलिए चुनाव आयोग को उसने सरकार के एक विभाग में बदल दिया है. इस तरह वह मानता है कि वह टिका रहेगा. फिर राज्य की शक्ति उसके पास है जिसका इस्तेमाल कर वह विपरीत जनमत को भी सकारात्मक वोट में बदल सकता है. फिलहाल उसका जोर पूरे भारत की राजनीति पर कब्जा करना है और अपने को निर्विकल्प बनाना है. तानाशाह जानते हैं कि उनका भविष्य क्या है, कि लोग उन्हें कल किस रूप में याद करेंगे. उन्हें मालूम है कि उनकी पूजा नहीं होगी, उनकी तुलना महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू से नहीं होगी. उन्हें उसी तरह देखा जाएगा, जिस तरह देखा जाना किसी तानाशाह को पसंद नहीं आता है. उनकी कोशिश यह होती है कि ऐसी नौबत नहीं आए, जो हिटलर और मुसोलिनी के सामने आई थी. पर कौन जानता है, कौन तय कर सकता है कि कल उसके साथ क्या होगा!

मगर तानाशाह ने जितना नुकसान किया होता है, उसकी भरपाई आसानी से नहीं होती. युद्ध से हुए नुकसान की भरपाई हो सकती है, तानाशाह के किए नुकसान की भरपाई बहुत मुश्किल होती है पीढ़ियां लग जाती हैं बहुत कुछ दुरुस्त करने में.

● **विष्णु नागर**

को प्रखरता से स्थापित करेगी.

हमारे संविधान ने एकमात्र न्यायपालिका के लिए ही ऐसी व्यवस्था बनाई कि जिसे संविधान के अलावा दूसरे किसी का बोझ नहीं ढोना है; संविधान के अलावा दूसरे किसी की नहीं सुननी है; संविधान के अलावा दूसरा कुछ नहीं कहना है; संविधान के अलावा दूसरा कुछ नहीं देखना है. उसने न्यायपालिका से कहा कि संविधान ही आपके लिए गीता, कुरान, जपजी, गुरूग्रंथ साहब, बाइबिल, अवेस्ता व दूसरे किसी भी विश्वास-ग्रंथ की जगह रहेगा. उसने एकमात्र इसी संस्थान की कुंडली में लिख दिया कि इसे हमेशा विपक्ष में ही रहना है - राजनीतिक दलों व संगठनों वाला विपक्ष नहीं, सवैधानिक विपक्ष! न्यायपालिका के हाथ में संविधान का गांडीव देकर उसने कह दिया : तुम्हारी नजर हमेशा उस मछली की आंख पर होनी चाहिए कि जो संविधान की मर्यादा से बाहर जा रही हो - फिर वह राष्ट्रपति हो कि प्रधानमंत्री कि राज्यपाल कि लोकसभा व राज्यसभा का अध्यक्ष; विधायिका हो या कार्यपालिका कि मीडिया. उसे इतना सजग व संवेदनशील रहना ही होगा कि देश के किसी भी कोने में, किसी एक व्यक्ति की भी गिरफ्तारी होती है तो वह तनक उठे व उस व्यक्ति के साथ तब तक खड़ी रहे जब तक यह साबित न हो जाए कि उस व्यक्ति की नागरिक स्वतंत्रता को स्थगित या सीमित किए बिना सरकार अपने सवैधानिक दायित्व की पूर्ति नहीं कर सकती थी. यह सुनिश्चित होने के बाद भी न्यायपालिका को यह देखते रहना है व सुनिश्चित करते रहना है कि उस व्यक्ति के नागरिक अधिकार व उसकी सवैधानिक गरिमा का हनन न हो. संविधान ने ऐसी न्यायपालिका बनाई और फिर खुद को भी उसके ही हाथ में सौंप दिया - 'मेरा संरक्षण और मेरा संवर्धन भी तुम्हारा दायित्व है. यही तुम्हारे होने की सार्थकता भी है और यही तुम्हारे होने की कसौटी भी है.'

क्या हमारी न्यायपालिका को इस दायित्व का अहसास है? क्या हमारी न्यायपालिका लोकतंत्र के कठघरे में खड़ी हो कर, गीता पर हाथ रख कर शपथपूर्वक कह सकती है कि लोकतंत्र के संरक्षण व संवर्धन का दायित्व उसने सौ टंच निभाया है? सौ टंच इसलिए कह रहा हूं कि संविधान का आधा-अधूरा निर्वाह अर्थहीन अवधारणा है. संविधान या तो है, या नहीं है! अगर संविधान है तो श्रीमान सूर्यकांत हमें बताएं कि यह कैसे संभव हुआ कि बंगाल में 90 लाख से अधिक मतदाताओं के नाम विभिन्न कारणों से मतदाता सूची से बाहर कर दिए गए? श्रीमान सूर्यकांत सर्वोच्च न्यायालय के जिन गलियारों से गुजर कर रोज अपने चैंबर में पहुंचते हैं, उन गलियारों में 'सर' की गूंज लंबे वक्त से गूंजती रही है. श्रीमान सूर्यकांत समेत भारत की सर्वोच्च अदालत का एक भी जज ऐसा नहीं

है कि जो कह सके कि उसने यह गूंज सुनी ही नहीं! सुनी; तो फिर किया क्या? हम समझते हैं कि किसी भी संवैधानिक व्यवस्था पर आपत्ति उठती हो तो उसकी बारीक जांच-परख जरूरी होती है. उसमें समय भी लगता है. लेकिन जब भी

साजिश!

मुद्दा किसी हार या जीत का नहीं है. बात इतनी-सी है कि जब भी कभी, कहीं, किसी भी स्तर पर कोई मुकाबला हो (मोहल्ले से लेकर विधानसभा- लोकसभा चुनावों तक) तब संबंधित संस्थाएं सुनिश्चित करें कि सभी पक्षों को बराबरी के अवसर मिलें. यह लोकतंत्र का बुनियादी सिद्धांत है.

जब केंद्र या राज्य के चुनाव की बात आती है तो यह जिम्मेदारी चुनाव आयोग की है. अगर चुनाव आयोग इसमें विफल रहता है, मतदाताओं को वोट डालने के अधिकार से वंचित किया जा रहा है, तो देश की मीडिया और अदालत को सक्रिय होना चाहिए.

दुर्भाग्यवश तीनों संवैधानिक संस्थान, चुनाव आयोग, मीडिया और न्यायपालिका अप्रभावी हो रही हैं. इस कारण भाजपा भले ही पूरे देश में अपराजेय बन जाए लेकिन लोकतंत्र तो पराजित हो जाएगा; वह पराजित हो रहा है.

अपनी याददाश्त में ऐसा सुप्रीम कोर्ट हमने न देखा, न सुना, न पढ़ा जो 27 लाख मतदाताओं को वोट डालने से वंचित किए जाने को चुपचाप न सिर्फ देख रहा है, बल्कि उसे स्वीकृति और वैधता भी प्रदान कर रहा है, और कह भी रहा है चलो, इस बार नहीं तो आप अगली बार वाट दे लेना! क्या कोई मिठाई बांटी जा रही है कि इस बार नहीं है तो अगली बार खा लेना! न्यायपालिका ने न्याय के मुंह पर कालिख पोत दी.

बंगाल की जीत ममता बनर्जी की राजनीतिक हार से कहीं ज्यादा केंद्र, चुनाव आयोग, नौकरशाही व मीडिया की सुनियोजित साजिश का परिणाम है. यह देश के लिए घातक है. समूचे विपक्ष को इसे समझना होगा. 2026 में जो ममता बनर्जी के साथ हुआ, 2027 में वही उत्तरप्रदेश में नहीं होगा क्या?

● किशनगिरी गोस्वामी, बीकानेर (राजस्थान)

आपत्ति उठे तो संविधान से बंधी न्यायपालिका सबसे पहले क्या करेगी? संवैधानिक विवाद के केंद्र में आने वाले संस्थान या व्यक्ति को वह पहला आदेश यह देगी कि पीछे हटो व इंतजार करो!

ऐसा क्यों नहीं किया गया? बिहार के वक्त सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसा दिखाया था कि वह मतदाता सूची के मामले में आयोग की मनमानी चलने नहीं देगा. फटकार-धमकी-लांक्षन-उपहास क्या नहीं था कि जिससे सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव आयोग को नवाजा नहीं. बस एक ही बात बाकी रह गई थी कि उसने चुनाव आयोग का हाथ बांधा नहीं. संविधान के प्रति उसकी वैसी प्रतिबद्धता पहले दिन से नहीं थी, सो बिहार में चुनाव लूट लिया गया. संविधान को धोखा देकर, संवैधानिक नैतिकता को रौंद कर एक अनैतिक गठबंधन को उसी तरह सरकार बनाने का मौका दिया गया जिस तरह महाराष्ट्र में दिया गया था. सर्वोच्च न्यायालय ने क्या कहा : महाराष्ट्र की सरकार अवैध है लेकिन हम कुछ कर नहीं सकते! हाथ में संविधान लेकर यदि अदालत निरुपाय है, तो कोई भी पूछेगा कि फिर आप हैं क्यों?

कैसा विद्रूप है कि न्यायपालिका में भ्रष्टाचार की सर्वज्ञात बात किसी पाठ्य-पुस्तक में लिख दी गई तो श्रीमान सूर्यकांत आग-बबूला हो गए. खुद ही इसका संज्ञान ले कर पुस्तक बनाने वाली समिति पर वे ऐसे टूट पड़े मानो दुर्वासा ऋषि अवतरित हुए हों. सरकार भी त्राहिमाम-त्राहिमाम की मुद्रा में आ गई. सबने अपने कदम पीछे खींच लिये. मामला रफा-दफा कर दिया गया. लेकिन चंडीगढ़ के मेयर के चुनाव में खुली धांधली करते अधिकारी का वीडियो सामने आने पर सर्वोच्च न्यायालय में खलबली नहीं मची. न वह अधिकारी, न चंडीगढ़ का चुनाव आयुक्त, कोई भी बर्खास्त नहीं हुआ, न उसे किसी भी संवैधानिक दायित्व के लिए आजीवन अयोग्य घोषित किया गया. बस, सबकी सुविधा का यह रास्ता निकाला गया कि नया मेयर घोषित कर दिया गया. यह संविधान के संरक्षण के लिए प्रतिबद्ध संस्थान का नैतिक आचरण नहीं था, धूर्त नौकरशाही की चालबाजी थी.

जब वोट चोरी का साक्ष्य सामने आया, एकाधिक बार, एकाधिक निर्वाचन क्षेत्रों के संदर्भ में आया तब न्यायपालिका ने क्या किया? उसने चुनाव आयोग को तुरंत ही कठघरे में नहीं बुलाया. न्यायाधीशों की तरह संविधान के पंडित न हों हम, फिर भी हम ऐसे मामले में पहला आदेश यही जारी करते कि वोट चोरी के साक्ष्य की जांच के लिए न्यायालय की समिति गठित की जा रही है, और जब तक यह जांच पूरी नहीं हो जाती, यह चुनाव आयोग दूसरा कोई भी चुनाव

संचालित नहीं कर सकेगा. चुनाव यदि संसदीय लोकतंत्र की नसों में दौड़ने वाला लहू है, तो उसे बोतल में बंद करने की इजाजत कैसे दी जा सकती है? इसलिए तत्काल न्यायिक जांच का आदेश जरूरी था. वह हुआ होता तो इस पतनशील व्यवस्था पर कुछ तो लगाम लगती.

बंगाल के बारे में मेरे जैसा सामान्य विवेक व लोकतंत्र के प्रति असामान्य आस्था रखने वाला व्यक्ति एक ही आदेश देता कि बंगाल में चुनाव घोषित समय से ही होंगे लेकिन चुनाव आयोग के निकम्मेपन के कारण, उसे विधानसभा के पिछले चुनाव की मतदाता सूची का ही पालन करना होगा. चुनाव से काफी पहले मतदाता सूची जांच-परख ली जाए ताकि उसे लेकर मतदाता के मन में कोई आशंका न रह जाए, यह दायित्व चुनाव आयोग का है. अगर वह अपने दायित्व के निर्वाह में विफल रहा है तो उसकी सजा उसे मिलनी चाहिए, न कि संवैधानिक प्रक्रिया को.

क्या न्यायपालिका ने बंगाल में यह नहीं देखा कि इस बार हिंसा का आयोजन दिल्ली से हुआ है और उसकी कमान चुनाव आयोग ने संभाल रखी है? भद्रजन जिसे 'हेटस्पीच' कहते हैं लेकिन संविधान जिसे लोकतंत्र की जड़ पर प्रहार मानता है, वैसा कारनामा प्रधानमंत्री से ले कर भाजपा का हर ऐरागैरा-नत्थूखैरा करने में लगा है, यह भी न्यायपालिका को सुनाई नहीं दिया? लाखों मतदाताओं के नाम रद्द करने की धौंस से नागरिकों में लाचारी व अपमान का माहौल बना, मनमाने प्रशासनिक फेर-बदल से स्थानीय स्वायत्तता धूल-धूल कर दी गई, सुरक्षा-बलों की छावनी जिस तरह बंगाल में उतारी गई, उसने एक तरफ बंगाली मतदाताओं को भयाक्रांत किया तो दूसरे बंगालियों को हमलावर भी बना दिया.

कई लोग कह रहे हैं कि ममता की सांप्रदायिक हिंसा से बंगाल पहली बार मुक्त हुआ. कोई पूछे कि लोकतंत्र के संदर्भ में दलीय हिंसा और सत्तातंत्र की योजनाबद्ध हिंसा में फर्क होता है या नहीं? दलीय हिंसा दल की पराजय के साथ खत्म हो जाती है; सत्तातंत्र की योजनाबद्ध हिंसा राजनीतिक संस्कृति बन जाती है. दिल्ली ने बंगाल में यही किया. न्यायपालिका को यह नहीं दिखा कि चुनाव के दौरान बंगाल का पूरा प्रशासन, पुलिस-सुरक्षा बल, प्रचार-तंत्र सारा कुछ बंगाल पर बाहर से लाकर लाद दिया गया था? यदि ममता बनर्जी बहुत भ्रष्ट, सांप्रदायिक ताकतों को लामबंद करने वाली, हिंसा भड़काने वाली बला की अलोकप्रिय मुख्यमंत्री थीं, तो उन्हें हराने के लिए दृढ़ मतदाता व निष्पक्ष चुनाव से अधिक की जरूरत क्यों पड़ी? क्यों भाजपा की संपूर्ण दिल्ली-मंडली बंगालवासी

बन गई? जीत भारतीय जनता पार्टी की हो कि ममता बनर्जी की, बंगाल की जनता की किस्मत बहुत बदलने वाली नहीं है. भगवा जहर मन में यदि भरा न हो तो 2014 से आज तक भाजपा शासित राज्यों की जनता का हाल देख लें तो जवाब मिल जाएगा. लेकिन जिन्हें भगवा की चाह है, उन्हें लोकतंत्र से क्या मतलब!

सर्वोच्च न्यायालय को इस बात का अहसास है क्या कि जब-जब उसे संविधान के संरक्षण में चीते की फुर्ती से आगे आना चाहिए था, तब-तब वह गीदड़ की कायरता से घिरा बैठा मिला? भारतीय लोकतंत्र के संदर्भ में आपातकाल एक विभाजक रेखा है. वहां से देखें कि नागरिक स्वतंत्रता का सवाल हो कि प्रेस पर सेंसरशिप का कि नक्सली बता कर, राज्य द्वारा अनगिनत लोगों की हत्या का, वोट चोरी का या मतदाता सूची में मनमानी दखलंदाजी का, ऐसा क्यों है कि संविधान की प्रतिष्ठा और राज्य के आतंक के बीच चुनाव का नाजुक क्षण जब भी आता है, हमारी न्यायपालिका को लकवा मार जाता है? कायरता व कमजोरी को खोखले शब्दों व तर्कों से कौन ढक सका है? ऐसी कोशिशें आपको और बेपर्दा कर जाती हैं. बाबरी मस्जिद ध्वंस का सवाल हो कि चुनावी बौंड की वैधता का, न्यायपालिका अपेक्षित प्रखरता से सामने नहीं आ पाती है, तो क्यों? जवाब गांधी देते हैं: जिन्हें हम संवैधानिक संस्थाएं कहते हैं वे सब निर्णायक क्षणों में सत्ता के साथ खड़ी दिखाई देंगी, क्योंकि अंततः ये सब उसके ही उपकरण हैं. इसलिए भगवा आतंकवाद की तीन गोलियां खाने के दिन तक वे इसी युक्ति में लगे थे कि इस देश की लोकतांत्रिक चेतना को कैसे मजबूत व प्रभावी बनाया जाए.

यह बात बार-बार कहने की व न्यायपालिका द्वारा लगातार दोहराने की है कि हमारी नागरिकता व मतदाता की हमारी हैसियत भारतीय राज्य की कृपा से नहीं है. यह हमें हमारे संविधान से स्वतः ही मिलती है. संविधान ने किसी चुनाव आयोग को, किसी सरकार को, लोकसभा या राज्यसभा के किसी अध्यक्ष को याकि किसी राज्यपाल को अपवादस्वरूप भी ऐसी मनमानी शक्ति नहीं दी है कि वह नागरिक को उसकी नागरिकता से या मतदाता को उसके मतदान के अधिकार से वंचित कर दे. बुलंद आवाज में यह सत्य कहना व इसे स्थापित करना आज न्यायपालिका का दायित्व है जिसमें वह बार-बार विफल होती है. इतना बड़ा सफेद हाथी हमने इसलिए पाल रखा है कि गाढ़े वक्त में वह लोक के साथ खड़ा हो, न कि तंत्र की तरफदारी करे. लेकिन लगता है, हमारी न्यायपालिका सरकारी नौकरशाही का हिस्सा बन कर रह गई है.

जब भारत की न्यायपालिका के सर्वोच्च न्यायाधीश सूर्यकांत साहब, भारतीय गर्मी से बेहाल अपने 77 न्यायाधीशों की टोली लेकर केंद्रीय कानूनमंत्री के शीतल साये में लंदन में छुट्टियां मनाते हुए, बैडमिंटन खेल रहे थे, मध्यप्रदेश

क्या पायाः क्या खोया

वैसे बीती रात एक मित्र ने मुझसे पूछाः बताइए, आपकी नजर में बीजेपी ने पिछले 12 सालों में देश में क्या किया है?

मैं सोचने लगा. फिर जो जवाब लिख कर भेजा, वह यह थाः भाजपा ने हिंदुस्तानियों के भीतर बरसों से सोए जानवर को जगाकर, हमारी मनुष्यता छीन ली. हमारे भीतर वह जानवर हमेशा से था. वह प्रगैतिहासिक जानवर इंसानों के भीतर बचा हुआ है लेकिन देश के लोगों में बनी एकता, भाईचारे की भावना से वह डरता था. डरता था, इसलिए छिपा रहता था. भाजपा ने हमसे हमारी वह सामूहिक चेतना छीन ली. आज मनुष्यता के पैमाने पर हम दुनिया के सर्वाधिक पिछड़े लोगों में एक बन कर रह गए हैं. उसने हमसे हमारे विचार, हमारे तर्क छीन लिए. तर्क के नाम पर अब हमारे पास फर्जी बातें और गालियां बच गई हैं.

हिंदुस्तान पर कभी भी तानाशाहों ने राज नहीं किया है. साम्राज्यवादी जरूर काबिज हुए थे - मुगलों से लेकर अंग्रेजों तक! पहली बार हमने तानाशाही देखी और खूब देखी! अब भाजपा ने हमसे कहने-सुनने-बोलने की ताकत छीन ली. अब हम सवाल नहीं करते; इसलिए नहीं है कि हम डरते हैं बल्कि इसलिए कि सवाल करने से मालिक असहज होता है. हमने आस्था के अपने प्रतीकों को छोड़ा नहीं है, बस उनकी अलग व आक्रामक छवि गढ़ ली है.

जो राम हमारे लिए मर्यादापुरुषोत्तम हुआ करते थे, जो हनुमान विनम्र सेवा की अटल मूर्ति से हमारे मानस में बसते थे, वे अब लाल आंखोंवाली हिंसक व आक्रामक मुद्रा में सब तरफ लहराते मिलते हैं. हमारी आस्था के सभी प्रतीक पहले उदार, विनम्र, करुणावान थे; अब ललकारती मुद्रा में हिंसक नजर आते हैं.

● **आवेश सिंह**

में चुनाव आयोग सरकार के साथ मिल कर बैडमिंटन खेल रहा था. नतीजा हुआ कि मध्यप्रदेश के किसी चुनाव अधिकारी ने कांग्रेस की मीनाक्षी नटराजन की राज्यसभा की उम्मीदवारी का पर्चा खारिज कर दिया. वे बैठे-बैठे हार गईं. अदालत की मौन सहमति से भारतीय जनता पार्टी के सभी 3 उम्मीदवार बैठे-बैठे जीत गए. यह हमारा नया लोकतंत्र है. फैसला आपको करना है कि आप इस लोकतंत्र के लायक हैं या नहीं.

मध्यप्रदेश में हार कर मीनाक्षीजी की कांग्रेस जब चुनाव आयोग के दरवाजे पहुंची तो उसे बताया गया कि आज दरवाजा बंद है. जब खुलेगा तब आना. एकदम सौ टंच खरा लोकतंत्र है यह! याद कीजिए, जब बिहार से बंगाल तक करोड़ों मतदाता अपना वोट नहीं डाल सके थे और वे सर्वोच्च न्यायालय के दरवाजे पहुंचे थे तो न्यायालय ने भी यही कहा थाः आज न्याय का दरवाजा बंद है. जल्दी क्या है, अगले चुनाव में वोट डाल लेना! ऐसा समभाव! नेता आएं कि जनता, दरवाजा बंद है तो बंद है. लोकतंत्र ऐसा ही होना चाहिए- सबके लिए समभाव!

वैसे मीनाक्षीजी और राहुल गांधी की कांग्रेस को यह पहचानना चाहिए कि वे दोनों हार तो तभी गए थे जब उन्हें अपने 62 विधायकों को हवाई जहाज में बिठा कर कर्नाटक भेजना जरूरी लगा था. कांग्रेस अपने पतन की यह दशा समझ पा रही है? लंबे समय से राहुल गांधी कांग्रेस के संगठन को संवारने की जो कोशिशें कर रहे हैं, वह कोशिश कहां पहुंची है, इसका एक नमूना मध्यप्रदेश के वे 62 विधायक हैं जिनका खुद पर या जिन पर संगठन का इतना भी भरोसा नहीं है कि वे किसी भी हाल में संघी-जाल में नहीं फंसेंगे. उनके विधायकों में इतना राजनीतिक शील भी नहीं बचा है कि वे अपने नेतृत्व से बता दें कि वे न डरेंगे, न बिकेंगे. क्या कांग्रेस में सिंधिया-संस्कृति से अलग कुछ भी नहीं बचा है; राहुल गांधी की कोशिशों से कुछ भी नहीं बना है? कांग्रेस के संकट का असली चेहरा यही है.

संघ परिवार हमेशा से इसी दर्शन में मानता आया है कि अपना फायदा ही पहला व अंतिम फायदा है. वह जो मानता है, उसी अनुरूप चलता है. कांग्रेस अब कुछ मानती नहीं है, वह केवल चाहती है. चाहने से कुछ मिलता नहीं है, यह वह भूल गई है. यह कांग्रेस का संकट है. वह इस सच को पहचाने कि नहीं, वह इससे जूझे कि नहीं, यह वह जाने.

ऐसा ही कुछ ममता बनर्जी के साथ हुआ. अपनी तृणमूल कांग्रेस को उन्होंने कभी समझाया ही नहीं कि इस तृण का मूल कहां है. उन्हें सत्ता की तलाश थी, सो उन्होंने यही सच सबको समझाया कि सत्ता जैसे व जहां मिले, हथियानी है.

इस अंधे, अनैतिक दर्शन में इतनी ही संभावना है कि वह आपको दो-चार चुनाव जिता दे. उसने ममताजी को जिता दिया. वे जीतती गईं, और फिर हार गईं. ऐसी हारीं कि अब वापसी संभव नहीं है. सारे क्षेत्रीय दल इसी दर्शन से चलते आए हैं और अपनी वक्ती जीत को अपनी असली ताकत मान कर फूलते रहे हैं. गुब्बारा फूलने की भी एक हद तो होती है न! फिर वह फूट जाता है. फूट जाता है, तो फिर फूलता नहीं है. नेतृत्व की कसौटी यही है कि वह बताए-सिखाए कि हवा कब, कितनी भरनी है और कब ठहर जाना है...

भारतीय राजनीति आज अत्यंत संभावनाओं के समक्ष खड़ी है. एक तरफ संघ परिवार है जो सत्ता का स्वाद चख चुका है. अब वह ऐसा हर कुछ कबूलता जा रहा है जो उसके ही घोषित आदर्शों के विपरीत है. संघ आज जिस रास्ते पर चल पड़ा है उससे उसकी वापसी मुश्किल है. इनके हाथ से सत्ता निकल जाए तो यह सारा ढांचा खोखला हो कर भहरा जाएगा. इस सरकार की भी अपनी कोई नैतिक रीढ़ नहीं है. यह सत्ता-लोभ की गोंद से चिपकी हुई है और सांप्रदायिकता व दूसरी तमाम संकीर्णताओं के उन्माद को अपनी ताकत बना रही है. यह बहुमत तो खो ही चुकी है, जिस बैसाखी पर चल रही है वह भी लगातार कमजोर होती जा रही है.

दूसरी तरफ खंड-खंड विपक्ष है – राजनीतिक सार्थकता की निम्नतम पायदान पर खड़ा! इसे यहां से उठना ही है, क्योंकि इससे नीचे जाने की कोई जगह नहीं है. राहुल गांधी को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने न केवल कांग्रेस को खड़ा रखा है बल्कि विपक्ष का राष्ट्रीय कद भी बना कर रखा है. इंडिया गठबंधन कांग्रेस की अक्षमता व दूसरे घटकों की बेमाप आकांक्षा का शिकार रहा है. ये सभी साथ आने के लिए साथ नहीं आए, अपना-अपना सिक्का जमाने व जताने के लिए साथ आए. इन्होंने राज्यों को राज की तरह बांट लिया - बंगाल ममता का, उत्तरप्रदेश अखिलेश का, बिहार यशस्वी का, महाराष्ट्र उद्धव का, वामपंथियों ने केरल को अपना घोषित कर लिया, अब्दुल्ला-मुफ्ती की अपनी खिचड़ी कश्मीर में. इन सबने कांग्रेस को अपने राज्य से दूर रखने की सावधानी रखी और अब हाल यह है कि ये सब टके सेर हुए जा रहे हैं. ये चाहते थे कि जो उच्छिष्ट बचा है, राहुल उसी में सीमित रहें. ऐसे हाल के बाद भी राहुल भारत से छोटी किसी पहचान से जुड़े नहीं.

उन्होंने इन सबसे अलग हो कर जब कदम बाहर निकाला तो 'भारत जोड़ो' की हवा बहाई. भाजपा को पता है कि जाति-धर्म-भाषा-लिंग से ऊपर उठी यह भारतीयता उसके लिए खतरा है, और वह यह भी समझती है कि राहुल कांग्रेस

को साथ ले कर देश में यह भाव जगा सकते हैं. इसलिए प्रधानमंत्री से ले कर भाजपा का हर छुटभैया राहुल को पप्पू और नेहरूवाली कांग्रेस को नाकारा साबित करने में जुटा रहा. शुरू में इसका एक माहौल बना भी जिसे अंधभक्तों ने खूब उछाला. सत्ता की ताकत व धन्नासेठों की दौलत का सहारा ले कर महामानव की एक छवि गढ़ी गई. लेकिन इतिहास भी अपना चक्र पूरा करता ही है. अब उस माहौल की हवा निकल रही है. यह नई राजनीतिक बेचैनी है जो संघ परिवार को घेरती जा रही है.

जब दोनों तरफ अपनी-अपनी तरह की बेचैनी फैली हो और समाज में एक छटपटाहट सर उठा रही हो तभी नई पहल का सही समय होता है. तिकड़म व जुमलेबाजी की कला में भारतीय जनता पार्टी व सरकार को महारत हासिल है. वह यही करती रहेगी, वह कोई नई पहल नहीं कर सकती है. इसलिए कोई नई पहल संभव है तो 'इंडिया' की तरफ से संभव है. शर्त यह है कि वह पहल शुद्ध हो, संविधानसम्मत हो, लोकतंत्र के बुनियादी असूलों को पूरा करती हो और सारे देश को समेट कर चलती हो. विपक्ष की सत्ताकांक्षा से भी आगे निकलना होगा इसे. क्या कांग्रेस के नेतृत्ववाली 'इंडिया' में यह समझ व प्रतीति है? देश यही समझना चाहता है, देश यही होता हुआ देखना चाहता है. यदि नहीं है तो लोकमानस में उठ रही यह आंधी बिखर भी सकती है या अवांछित दिशा में भी जा सकती है.

● कु॰ प्र॰

*

जब तुम्हारी सरकार मानवता के प्रति अपराध करती हो
तब अपना मुंह फेर कर पलट मत जाओ.
तब शांति के पक्ष में अपनी आवाज उठाओ,
न्याय के लिए लड़ो.
हम सबको हमेशा मानवता का पक्षधर रहना चाहिए.

● नेल्सन मंडेला

दस्तावेज

"अदालतों की सबसे बड़ी बुराई यह है कि ये सरकार की सत्ता को बल देती हैं."



० महात्मा गांधी

सवाल अदालतों की स्वतंत्रता का इसलिए है कि औपनिवेशिक अदालत और लोकतंत्र की अदालत में चरित्र का फर्क है; होना चाहिए. लेकिन हम इसके प्रति सावधान नहीं रहे. गुलाम भारत का सब कुछ ज्यों-का-त्यों आजाद भारत ने हजम कर लिया, तो यह विष कुंभ कहीं तो फूटना ही था! आज वह फूट रहा है - न्यायपालिका संदर्भहीन होती जा रही है. आज से 106 साल पहले गांधी ने औपनिवेशिक न्यायपालिका का चरित्र उजागर किया था. 106 साल बाद भी हमारी न्यायपालिका उस चरित्र को छोड़ नहीं पा रही है

अगर हम पर वकीलों और अदालतों का जादू न चढ़ा होता और अगर हमें फुसलाकर न्यायालयों के दलदल में फंसा देनेवाले, अधम-से-अधम भावनाओं को उभारनेवाले दलाल न होते तो हमारा जीवन आज की अपेक्षा बहुत सुखी होता. अदालतों के इर्द-गिर्द रहनेवाले – बल्कि इस कोटि के अच्छे-से-अच्छे लोग भी – इस बात की साक्षी भरेंगे कि वहां का वातावरण बहुत दूषित होता है. दोनों तरफ

से झूठे गवाह पेश किए जाते हैं, जो पैसे या मित्रता के लिए अपनी आत्मा तक बेच देने को तैयार रहते हैं. लेकिन यह इन अदालतों की सबसे बड़ी बुराई नहीं है. इनकी सबसे बड़ी बुराई तो यह है ये सरकार की सत्ता को बल देती हैं.

न्यायालयों का अंतिम लक्ष्य, ये न्यायालय जिस सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस सरकार की सत्ता को स्थायित्व प्रदान करना है. अपने न्यायालयों के बिना यह सरकार एक दिन में समाप्त हो जाए.

इन्हें न्याय देनेवाली संस्था माना जाता है और इसलिए न्यायालयों को राष्ट्र की स्वतंत्रता का अभिरक्षक कहा जाता है. लेकिन जब ये किसी अन्यायी सरकार की सत्ता का समर्थन करती हैं तो स्वतंत्रता की अभिरक्षक नहीं, बल्कि राष्ट्र की आत्मा को दलित करनेवाली संस्थाएं बन जाती हैं. ऐसी ही थीं पंजाब की सैनिक शासन-अदालतें और समरी अदालतें. हमने उन्हें पूरी तरह उनके नग्न रूप में देखा, और उनका वही रूप सामान्य समय में भी होता है. जब सवाल एक उच्चतर जाति और उनके गुलामों की तरह जिंदगी बिताने वाले लोगों के बीच न्याय करने का हो, सारी दुनिया में उनका यही रूप देखने को मिलता है. जरा उस अंग्रेज अधिकारी पर चलाए गए मुकदमे और उस नाममात्र की सजा पर गौर कीजिए जो उसे नैरोबी के निरीह नीग्रो लोगों पर जान-बूझकर अत्याचार करने के लिए दी गई थी. भारत में अंग्रेजों ने जो नृशंस हत्याएं की हैं उनके लिए क्या एक भी अंग्रेज को कानून में विहित कड़ी-से-कड़ी सजा या उससे मिलती-जुलती कोई भी सजा दी गई है? कोई ऐसा न सोचे कि अंग्रेजों के बदले भारतीय न्यायाधीश या सरकारी वकील होने लगेंगे तो स्थिति बदल जाएगी. अंग्रेज स्वभाव से भ्रष्टाचारी नहीं हैं, और न ऐसा ही है कि हर भारतीय फरिश्ता है. अपने-अपने परिवेश का प्रभाव दोनों पर पड़ता है. सैनिक शासन के दौरान भारतीय न्यायाधीश भी थे और सरकारी वकील भी, लेकिन इन लोगों ने भी वही सब किया जिसके अपराधी अंग्रेज हैं. अगर मनियांवाला की स्त्रियों का अपमान किसी बॉसवर्थ स्मिथ ने किया तो अमृतसर में निरीह स्त्रियों पर अत्याचार करने वाले भारतीय थे. मैं जिस चीज की आलोचना कर रहा हूं वह तो एक प्रणाली है. वैसे अंग्रेजों के साथ मेरा कोई झगड़ा नहीं है. मैं आज भी व्यक्ति के रूप में अंग्रेजों का सम्मान उसी तरह करता हूं जैसे पहले करता था, जब कि तब मुझे इस बात का पता नहीं था कि वर्तमान प्रणाली में कोई सुधार हो ही नहीं सकता. श्री एंड्यूज और मेरे अन्य परिचित अंग्रेजों के साथ मेरे संबंध में आज कोई अंतर पड़ा है तो केवल यह कि वे लोग मेरे और

भी निकट आ गए हैं. लेकिन अगर, वे जो मेरे लिए सगे भाई से भी बढ़कर हैं, भारत के वाइसराय बन जाएं, तो मैं उन्हें अपनी श्रद्धा नहीं दे पाऊंगा. अगर वह यह पद स्वीकार कर लें तो मुझे यह भरोसा नहीं रह जाएगा कि वे ईमानदार रह सकते हैं. उस हालत में उन्हें एक ऐसी प्रणाली का संचालन करना पड़ेगा जो सहज ही भ्रष्टाचारी है और जिसका आधार ही यह मान्यता है कि हम भारतीय लोग निम्नतर जाति के हैं. अपने उद्देश्यों को लोगों के लिए सम्माननीय बनाने के लिए शैतान अधिकांशतः अपेक्षाकृत नीति-समर्थित साधनों और नैतिकता की भाषा का ही प्रयोग करता है.

वर्तमान प्रणाली के अधीन जितनी भी संस्थाएं चल रही हैं, सब पर बहुत ज्यादा खर्च किया जा रहा है और कदाचित सबसे ज्यादा खर्च न्यायालयों पर किया जाता है.

मैंने यह दिखाने के लिए थोड़ा विषयांतर कर दिया है कि इस सरकार में अगर सभी लोग भारतीय हों, लेकिन इसका संचालन उसी तरह किया जाए जिस तरह आज किया जाता है तो इस परिवर्तन के बावजूद वह आज की तरह ही असह्य होगी. यही कारण है कि यह जानकर मुझे कोई संतोष नहीं हुआ कि लार्ड सिन्हा (सत्येंद्र प्रसन्न सिन्हा) एक बहुत ऊंचे पद पर नियुक्त किए गए हैं. (बिहार और उड़ीसा के गवर्नर). हमें सिद्धांतः और व्यवहारतः भी पूरी समानता मिलनी चाहिए और हममें यह क्षमता होनी चाहिए कि अगर हम ब्रिटेन से अपने संबंध तोड़ लेना चाहें तो ऐसा कर सकें.

लेकिन अब असली सवाल अर्थात वकीलों और न्यायालयों की बात लें. हम तब तक यह वांछित दर्जा प्राप्त नहीं कर सकते जब तक हम इन तथाकथित न्याय-मंदिरों के प्रति अंध-श्रद्धा रखते हैं और उन्हें विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखते हैं. जो लोग इन न्यायालयों के सामने अपने लालच या प्रतिशोध की भावना की तृष्टि करते हैं या अपने न्याय-सम्मत दावे स्वीकार करा लेते हैं, उन्हें इन न्यायालयों के अंतिम लक्ष्य की ओर से आंखें बंद कर लेनी चाहिए. न्यायालयों का अंतिम लक्ष्य, ये न्यायालय जिस सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस सरकार की सत्ता को स्थायित्व प्रदान करना है. अपने न्यायालयों के बिना यह सरकार एक दिन में समाप्त हो जाएगी. मैं यह स्वीकार करता हूं कि मेरी योजना के अंतर्गत जब प्रत्येक भारतीय वकील अपनी वकालत बंद कर देगा और न्यायालयों में कोई भी दीवानी मुकदमा पेश नहीं किया जाएगा, तब भी इन न्यायालयों के जरिए लोगों को अपने अधीन रखने की शक्ति सरकार में रहेगी ही. लेकिन तब ये न्यायालय

हमें धोखा तो नहीं दे सकेंगे. उनकी नैतिक प्रतिष्ठा समाप्त हो जाएगी और उनके साथ सम्मान का जो एक भाव जुड़ा हुआ है, वह भी नहीं रह जाएगा.

यह बात बहुत विचित्र तो लगती है फिर भी है सत्य कि जब तक हम धीरे-धीरे अंग्रेजों के हाथ से भारतीयों के हाथ में शक्ति देने की अच्छाई में विश्वास करते रहेंगे तब तक न्यायालयों में भारतीयों को ऊंचे पदों पर नियुक्ति को वरदान माना जाता रहेगा.

लेकिन अब चूंकि हम ऐसा मानते हैं कि इस पद्धति को क्रमिक रूप से सुधारना असंभव है, इसलिए ऐसी हर नियुक्ति को, उसके पीछे जो धोखेबाजी छिपी हुई है, उसे दृष्टि में रखते हुए बुरा ही मानना चाहिए. इसलिए अपनी वकालत बंद करनेवाला हर वकील उस हद मूक न्यायालयों की प्रतिष्ठा की जड़ को कमजोर करता है, और उस हदतक यह कार्रवाई स्वयं उस व्यक्ति के लिए भी लाभदायक है, और राष्ट्र के लिए भी.

और न्यायालयों के कारण लोगों को जो आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है, उस पर तो कोई विचार किया ही नहीं गया है. लेकिन यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है. वर्तमान प्रणाली के अधीन जितनी भी संस्थाएं चल रही है सब पर बहुत ज्यादा खर्च किया जा रहा है और कदाचित सबसे ज्यादा खर्च न्यायालयों पर किया जाता है. इन पर इंग्लैंड में कितना खर्च किया जाता है, इसकी मुझे थोड़ी-सी जानकारी है, और इन सबके आधार पर मैं निःसंकोच कह सकता हूं कि भारतीय न्यायालयों पर तुलनात्मक दृष्टि से सबसे ज्यादा खर्च किया जाता है. इस खर्च का लोगों की सामान्य आर्थिक स्थिति से कोई मेल नहीं है. दक्षिण अफ्रीका का अच्छे-से-अच्छा वकील भी — और वहां भी इस कोटि के वकील वास्तव में बहुत योग्य होते हैं — भारतीय वकील जितनी फीस लेने का साहस नहीं करता है. कानूनी सलाह देने के लिए वहां ऊंची-से-ऊंची फीस 15 गिनी लगभग है. लेकिन हम जानते हैं भारत में तो हजारों रुपए लिए जाते हैं. जिस प्रणाली के अधीन एक वकील महीने-भर में पचास हजार से एक लाख रुपये तक कमाए, उस प्रणाली में अवश्य ही कोई बहुत बड़ी खामी होगी.

कानूनी पेशा सट्टेबाजी-जैसा कोई धंधा नहीं है और न उसे ऐसा होना चाहिए. गरीब-से-गरीब लोगों को वाजिब फीस पर अच्छे-से-अच्छे वकीलों की सेवा प्राप्त होनी चाहिए. लेकिन हमने तो अंग्रेज वकीलों का अनुकरण किया है और

इसमें उनसे भी आगे बढ़ गए हैं. अंग्रेजों के लिए भारत की आवोहवा बहुत कष्टकर होती है और कड़ी सर्दी के अभ्यस्त होने के कारण वे अक्सर पहाड़ों पर और अपने वतन को आते-जाते रहते हैं. अपने बच्चों को वे एक बिल्कुल अलग ढंग की अभिजात-वर्गीय शिक्षा देते हैं. इसलिए ये खर्चे पूरे करने की गरज से स्वभावतः उनकी फीस बहुत ऊंची हुआ करती है. लेकिन भारत इस तरह अपना धन बहाने की स्थिति में नहीं है. हम सोचते हैं कि अपने-आपको इन अंग्रेज वकीलों की बराबरी के दर्जे का मान सकें, इसके लिए हमें उनकी तरह ही जानलेवा फीस लेनी चाहिए. वह दिन भारत के लिए बहुत बुरा होगा जब उसे अपने मानदंड और रुचियों के लिए अंग्रेजों के मानदंड और रुचियों का अनुकरण करना पड़ेगा, क्योंकि उनका मानदंड और उनकी रुचियां भारतीय मिट्टी के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं. यदि कोई वकील न्यायालयों और अपने धंधों को उस दृष्टिकोण से देखे जो दृष्टिकोण मैंने प्रस्तुत किया है और यदि वह सचमुच अपनी योग्यता भर राष्ट्र की सेवा करना चाहता हो तो उसका निष्कर्ष यही होगा कि उसे सबसे पहले अपनी वकालत बंद कर देनी चाहिए. उसका निष्कर्ष इससे भिन्न तभी हो सकता है जब वह, मैंने जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, उन्हें गलत सिद्ध कर दे.

(**यंग इंडिया** 6. 10. 1920)

नजरिया

यह धर्म रक्षा नहीं है

० देवदत्त पटनायक

हमारे पौराणिक आख्यानों, रीति-रिवाजों, अनुष्ठानों-प्रतीकों का मनोहारी संसार हमारे सामने इधर के दिनों में जिन लोगों ने बड़े रसमय तरीके से खोला है उनमें देवदत्त पटनायक का नाम खूब परिचित हुआ है. वे कलम व कूची दोनों की मदद से हमें इस पौराणिक दुनिया में ले जाते रहे हैं. इसलिए वे जब कहते हैं कि आज हिंदुत्व की हवा, जिस तरीके से बहाई जा रही है वह भारत राष्ट्र के लिए अपशकुन है, तो हमें उन्हें सावधानी से सुनना व समझना चाहिए

आज हिंदू धर्म की रक्षा के नाम पर जो किया व बेचा जा रहा है, वह भारत राष्ट्र को तोड़ने के सबसे कारगर तरीकों में से एक हो सकता है. यह चाल देखने में एकदम सरल लगती हैः एक असीम विविधतापूर्ण सभ्यतागत ताने-बाने को खान-पान के मनमाने नियमों में समेट कर रख देना. एक बार जब आपने हिंदू पहचान को शाकाहार की शुद्धता में समेट दिया, तो एक विशाल भारतीय आबादी को आपने चुपचाप हाशिये पर धकेल दिया. जंगलों की पूजा करने वाला, ग्रामदेवी को मदिरा चढ़ा कर, मांस का भोग लगानेवाला भारत का मूल निवासी आदिवासी अचानक खुद को कम हिंदू महसूस करने लगता है. तटीय मछुआरों का समुदाय, पूर्व की शाक्त परंपराओं का पालन करनेवाला पुरातन भारतीय समुदाय, दक्कन का चरवाहा समूह, ग्रामदेवियों के सामने भैंस-बलि अनुष्ठान करनेवाला, नेपाल और पहाड़ों के रक्त-प्रेमी दादी-नानी सभी को इस नव-पवित्र द्वार के बाहर खड़ा कर

दिया जाता है. जब इतने सारे भारतीय समुदाय से यह कहा जाता है कि वे सब इतने पवित्र नहीं हैं कि इस नये भारतीय समुदाय का हिस्सा बन सकें, तो किसे लाभ होता है और किसका नुकसान होता है? बहस हो सकती है लेकिन मैं साफ कहना चाहता हूं कि यह सब और कुछ भी हो, धर्म की रक्षा का रास्ता नहीं है.

सदियों से यही होता आया है और उसका एक ही परिणाम हमने देखा है कि अभिजात वर्ग की रस्मों से जुड़ी शुद्धता की धारणा समाज को कई तरह से विभाजित कर देती है. जिन्हें कभी 'अछूत' कहा जाता था, और जिन्हें गांधीजी ने 'हरिजन' कह कर एक नया संदर्भ देने का प्रयास किया था और अब जिन्हें 'दलित' कहा जा रहा है, उन्हें ही तो मंदिरों में प्रवेश से वंचित किया गया था, उन्हें ही तो सार्वजनिक कुओं पर चढ़ने व पानी भरने का अधिकार नहीं था. यही लोग तो थे जिन्हें सवर्णों की रसोई में प्रवेश से वंचित रखा जाता था. जब हिंदू समाज का एक हिस्सा दूसरे को अपवित्र घोषित करने लगता है, तो जाति, वर्ग और क्षेत्र की पुरानी दरारें, जिन्हें पाटने में सदियां लगी थीं, कितने समाज सुधारकों ने जिसमें अपना पूरा जीवन खपा दिया था, वे सब फिर से सर उठाने लगती हैं.

कुलीन दरबारों के कई ऐतिहासिक वृत्तांतों का तटस्थ अध्ययन बताता है कि ऐसे तथाकथित पवित्र परिवेश में रहने वालों के बीच भी कभी समतापूर्ण गरिमा का समान व्यवहार नहीं होता था. आज वही सारा पतनशील चलन सांस्कृतिक गौरव की परिष्कृत भाषा में लपेट कर, भारतीय समाज पर वापस लादने की कोशिश हो रही है.

जब इतने सारे भारतीय समुदाय से यह कहा जाता है कि वे सब इतने पवित्र नहीं हैं कि इस नये भारतीय समुदाय का हिस्सा बन सकें, तो किसे लाभ होता है और किसका नुकसान होता है? बहस हो सकती है

इनका नया नारा है शाकाहार; इसका नया युद्धक्षेत्र है मंदिर परिसर! पवित्र स्थलों के चारों ओर 15 किलोमीटर के दायरे को पवित्र घोषित किया जाता है, जिसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि इस दायरे में मांस, मछली, अंडे का सेवन बंद! ऐसी घोषणा के साथ ही लाखों लोगों की खान-पान की संस्कृति भी लुप्त हो जाती है. जिसे अनुष्ठानिक पवित्रता का रूप देकर शुरू किया जाता है, वह धीरे-धीरे एक राजनीतिक घेराबंदी में बदलता जाता है. और फिर एक बड़ा खतरा उभरता दिखाई देता हैः गंगा के मैदानी इलाकों की खान-पान संबंधी नैतिकता पूरे देश की नैतिकता बन कर सामने आती है. वह अब सब पर थोपी जा रही है. दक्षिण भारत, पूर्वी भारत, आदिवासी भारत, हिमालयी भारत

सभी को बता दिया जाता है कि अब एक ब्राह्मणवादी खान-पान की कल्पना में सबको ढलना होगा. अनेक रसोईघरों वाली एक सभ्यता को डांट कर कहा जा रहा है कि सबका 'मेनू' एक ही होना चाहिए. संस्कृतियों का विघटन इसी प्रकार होता हैः बाहरी आक्रमण से नहीं, भीतरघात से वह मिटती जाती है.

जब हिंदू समाज का एक हिस्सा दूसरे को अपवित्र घोषित करने लगता है, तो जाति, वर्ग और क्षेत्र की पुरानी दरारें, जिन्हें पाटने में सदियां लगी थीं, कितने समाज सुधारकों ने जिसमें अपना पूरा जीवन खपा दिया था, वे सब फिर से सर उठाने लगती हैं. शाकाहारी अभिजात वर्ग प्रामाणिकता का मानक बन जाता है, बाकी सभी संदेह के घेरे में आ जाते हैं. इसलिए यह असभ्य प्रश्न पूछना आवश्यक हो जाता हैः हिंदुओं को शुद्ध और अशुद्ध में विभाजित करने से किसे लाभ होता है? आदिवासियों को समाज से अलग-थलग महसूस कराने से किसे लाभ होता है? बहुजनों को यह कहने से किसे लाभ होता है कि उनका भोजन अपवित्र है? दक्षिण भारतीय और पूर्वी रीति-रिवाजों को धीरे-धीरे उत्तर भारत के शुद्धता मानकों के अनुरूप ढालने से किसे लाभ होता है? इन सबका उत्तर किसी षड्यंत्र में नहीं, सत्ता में छिपा है. जब भी किसी एक समूह की जीवनशैली राष्ट्रीय संस्कृति की परिभाषा बना दी जाती है, तब वह सामाजिक सत्ता को मजबूत करती है; तब हमारे रसोईघर नियंत्रण के साधन बन जाते हैं; भोजन धर्म बन जाता है; धर्म राजनीति बन जाता है, और इस प्रकार एकता के नाम पर विखंडन शुरू हो जाता है.

जब हिंदू समाज का एक हिस्सा दूसरे को अपवित्र घोषित करने लगता है, तो जाति, वर्ग और क्षेत्र की पुरानी दरारें, जिन्हें पाटने में सदियां लगी थीं, कितने समाज सुधारकों ने जिसमें अपना पूरा जीवन खपा दिया था, वे सब फिर से सर उठाने लगती हैं

विडंबना बेहद क्रूर है. एक ऐसा धर्म जो अपनी विविधता के कारण सदियों से जीवित रहा है, जिसमें रक्तबलि और मंदिर की मिठाइयां, तपस्वी उपवास और मछली करी, सोमा और ताड़ी, बिल्व पत्र और भैंस की बलि जैसी चीजों को एक साथ आत्मसात करने की क्षमता है, आज उसे एक ही आहार व विचारधारा के रूप में जीवित रहने का आदेश दिया जा रहा है. यह सनातन नहीं है, यह मानकीकरण है. और जब विविधता पर मानकीकरण थोपा जाता है, तो इतिहास गवाह है कि यह विघटन की ओर पहला कदम होता है. यदि कोई सचमुच भारत को तोड़ना चाहता है, तो उसे सेनाओं की आवश्यकता नहीं है. उसे बस इतना करना है कि भारतीयों को यह विश्वास दिला देना है कि केवल एक ही प्रकार की भारतीयता वास्तविक और पवित्र है.

(लेखक भारतीय ज्ञान व आस्था परंपरा के गहन अध्येता हैं.)

आमने-सामने

कॉक्रोच जनता पार्टी



इलेक्ट्रोनिक माध्यमों पर रोज ही एक नया तूफान उठता है और अगले दिन उसका ज्वार भाटे में बदल जाता है. कहनेवाले कह रहे हैं कि कॉक्रोच जनता पार्टी का भी ऐसा ही हुआ है, कि इसका ऐसा ही हश्र होना था. ऐसा कहने वालों व इसका उपहास उड़ाने वालों को अपने हश्र का पता है या नहीं, मालूम नहीं लेकिन उन्हें यह याद रखना चाहिए कि बालू में सर छिपा लेने से तूफान खत्म नहीं हो जाते हैं. इसके पीछे की अभिप्रेरणा अभिजीत दीपके अमरीका से भारत आकर इस परिकल्पना को इलेक्ट्रोनिक पर्दे से निकालकर जनता के बीच पहुंच गए हैं. कॉक्रोच जनता पार्टी की हवा बनाते हुए वे जगह-जगह घूम रहे हैं. उन पर हमले भी हुए हैं, अपशब्दों की बौछार हो रही है; फिर भी हर जगह युवाओं की भीड़ उमड़ कर उनका साथ दे रही है

हमारे सामाजिक जीवन में पिछले दिनों जो चुप्पी घर कर गई थी, कॉक्रोच जनता पार्टी ने वह चुप्पी तोड़ दी है. लोकतंत्र में लोक बोलने लगे, तो इससे बहुत संभावनाएं पैदा होती हैं. यह क्षणिक होगा तो फुलझड़ी बन जाएगा; इसमें कोई

सार होगा तो समाज में शक्ति बनेगी.

हम कॉक्रोच जनता पार्टी के पैरोकार नहीं हैं, न हम इसे किसी विकल्प की तरह देखते हैं. लेकिन हम इसे हर्गिज ही विदेशी षड्यंत्र या देशद्रोही प्रयास नहीं मानते हैं. यह दिशाहीन व भविष्यहीन भारत के युवाओं का दर्दभरा क्रोध है जो तिलचट्टा कहे जाने के बाद, उसी भूमिका में अपनी सार्थकता खोज पा रहा है. यह हमारे लोकतंत्र पर एक व्यंग्य है.

कॉक्रोच जनता पार्टी का यह पूरा हंगामा हमारी तमाम संवैधानिक संस्थाओं को कठघरे में खड़ा करता है. 75 साल से अधिक पुराना हमारा लोकतंत्र जिन सबको कठघरे में खड़ा करता है वे ही हमें कॉक्रोच करार दें तो ऐसी विडंबना पर हम कुछ नहीं कहते सिवा **जयप्रकाश नारायण** की एक खीज भरी टिप्पणी को उद्धृत करने केः **''पता नहीं कब तक हमें अपने शासकों की मूर्खतापूर्ण बातों का मूक श्रोता बने रहना पड़ेगा!''**

कभी जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्र के बौद्धिकों से यह सीधा सवाल पूछा थाः क्या नैतिक तानेबाने के बिना कोई राष्ट्र टिक सकता है? उन्होंने सवाल भर नहीं पूछा बल्कि संपूर्ण क्रांति का आंदोलन खड़ा कर अपना जवाब भी दिया. जवाब दूसरी तरफ से भी आया - सत्ता ने उन्हें और देश को जेल में डाल दिया! तब दूसरी संवैधानिक संरचनाओं पर यह दायित्व आया था कि वे अपना-अपना जवाब दें. भारतीय लोकतंत्र के इतिहास

तिलचट्टे-ही-तिलचट्टे

पिछली सदी के युगांतरकारी लेखकों में से एक, जर्मन भाषी यहूदी फ्रांज़ काफ्का ने सामाजिक ढांचे में व्याप्त अतार्किकता और असंगतियों से निकली भयावहता का प्रभावशाली चित्रण किया है.

1915 में प्रकाशित उनका 'मेटामॉर्फोसिस' का मुख्य पात्र ग्रेगोर ज़म्ज़ा एक सुबह उठता है तो खुद को एक विशाल कीड़े में बदला हुआ पाता है- विशालकाय तिलचट्टा! अपने ही लोगों द्वारा अस्पृश्य बना दिया गया, भूख, एकाकीपन, शारीरिक-भावनात्मक उपेक्षा और इस अपराधबोध से जूझता कि वह सब पर एक बोझ बन गया है, ग्रेगोर ज़म्ज़ा दम तोड़ देता है और नौकरानी उसकी लाश को ठिकाने लगा देती है.

आज जो तिलट्टा चर्चा में है, पता नहीं उसके लोगों ने 'मेटामॉर्फोसिस' पढ़ी भी है या नहीं, लेकिन देश में बेरोजगारों की स्थिति उसी ग्रेगोर ज़म्ज़ा की तरह है जिन्हें समाज बोझ समझता है, सीधे मुंह बात नहीं करता है. घर में उन्हें ताने सुनने पड़ते हैं. ऐसे अवसादपूर्ण जीवन के प्रति

सहानुभूति न रखना, समाज द्वारा उसे परजीवी के रूप में देखना, उसके साथ तिलचट्टे-सा व्यवहार करना मानवोचित गरिमा का ऐसा पतन है, जिसे महसूस करने के लिए पहले मनुष्य बनना आवश्यक है.

जिस तरह आज वैज्ञानिक मिजाज को कुचला जा रहा है, आस्था के नाम पर तरह-तरह के स्वांग रचे जा रहे हैं, हजारों लीटर दूध बहा कर नदियों, उनके जलजीवों और वनस्पतियों को तबाह किया जा रहा है, कर्मकांडों को प्राचीन ज्ञान बताकर जिस तरह छद्म विज्ञान को बढ़ावा दिया जा रहा है, वह हमारे देश में ही संभव है. शिक्षा का 'गलगोटियाकरण' हो रहा है. उसके बजट में भारी कटौती की जा रही है. विद्यालयों पर ताले लटकाए जा रहे हैं. अपनी तिजोरी भरने के लिए नीट के परीक्षार्थियों का भविष्य दांव पर लगा दिया जा रहा है. कुछ बाबाओं, परंपरावादियों के तृष्टिकरण के लिए अरबों रुपए डुबा कर मुर्दा पौराणिक पद्धतियों को पुनर्जीवित किया जा रहा है. यह सब न केवल गंभीर चिंता का विषय है, बल्कि इससे यह भी साफ हो जाता है कि हम चेतनशील नागरिक नहीं, क्रोनी कैपिटलिस्टों की चाकरी करने वाले जम्हूरे पैदा कर रहे हैं.

यह बिल्कुल संभव है कि 'मेटामॉर्फोसिस' की यह भयावहता, जो आम मनुष्यों को कीड़े-मकोड़ों सदृश मानती है, 'महान देवताओं' की समझ में न आ पाई हो. अच्छा साहित्य अक्सर पेचीदा तो होता ही है! काफ्का का दूसरा उपन्यास 'द ट्रायल' एक बहुत होलनाक संसार की रचना करता है. इसका मुख्य पात्र जोज़ेफ़ तंत्र और विधि-व्यवस्था की भूलभुलैया में उलझाकर खत्म कर दिया जाता है. जोज़ेफ़ एक शरीफ बैंक अधिकारी है, जिसे उसके 30वें जन्मदिन पर अचानक दो रहस्यमय एजेंट गिरफ्तार कर लेते हैं. जोज़ेफ़ को पता नहीं लगता है कि उसका अपराध क्या है, किंतु उस पर जिम्मेदारी डाल दी गई है कि वह अपनी बेगुनाही साबित करे. वह अंतहीन और असंगत अदालती प्रक्रियाओं में उलझता जाता है. उस तंत्र में न्यायाधीश और वकील अश्लील किताबें पढ़ते हैं, स्त्रियों के शोषण में लिप्त नज़र आते हैं, रिश्वतखोर और विलासी हैं. यहां अदालती कार्रवाइयों के कोई रिकॉर्ड नहीं रखे जाते, या कहें कि कोई सबूत नहीं छोड़े जाते. जोज़ेफ़ का भ्रष्ट और नाकाबिल वकील डॉ. हूल्ट अपने मुवक्किलों के साथ दासों-सा व्यवहार करता है. किसी व्याधि के ग्रस्त वह बिस्तर पर पड़े-पड़े ही मुकदमे लड़ता है. वह बीमार हो चुकी सड़ती न्याय-व्यवस्था का प्रतीक

है. जोज़ेफ़ सच्चाई और न्याय की तलाश में भटकता रहता है किंतु उसे हर जगह निराशा ही हाथ लगती है. उसकी गिरफ्तारी के साल भर बाद, दो अफसर जोज़ेफ़ को एक सुनसान खदान में ले जाते हैं और बेरहमी से उसे 'एक कुत्ते की तरह' मार डालते हैं.

ऐसी कथा के कितने ही पात्र आज हमारी नज़रों के सामने मौजूद हैं, लेकिन हम भयभीत लोग उन्हें अच्छी तरह आंखें खोलकर देखने का साहस तक नहीं जुटा पा रहे. कितने ही लोग सच्चे-झूठे मामलों में वर्षों से सुनवाई का इंतजार करते जेलों में सड़ रहे हैं और कितने ही छुट्टे सांडों की तरह यहां-वहां मुंह मारते घूम रहे हैं. रिश्वतखोरी और अय्याशी इतनी व्यापक और सामान्य-सी बात हो गई है कि लोगों का उस पर ध्यान तक नहीं जाता. पूरा समाज काफ्का के 'द ट्रायल' में बदलता जा रहा है और इस पर सवाल उठाने वालों को असामाजिक तत्व, परजीवी और तिलचट्टा कहा जा रहा है. हमारे सर्वोच्च न्यायालय के गलियारों से कुछ समझदारी की फुसफुसाहटें आ रही हैं कि ज़मानत नियम है और जेल अपवाद! सुन कर अच्छा लगता है, जैसे अच्छे दिन आ रहे हैं सुन कर लगा था. तिलचट्टे सुन रहे हैं लेकिन उन्हें इससे कोई उम्मीद नहीं है... तिलचट्टे बहुत पुराने अनुभवों को लिए हैं.

● **संजय सहाय**

(**'हंस'** जून 2026 के संपादकीय से)

के उस मोड़ पर हमारी अधिकांश संवैधानिक संरचनाएं उसी तरह शर्मनाक ढंग से विफल हुई थीं जिस तरह आज हो रही हैं.

हमारे लोकतंत्र का हर स्तर पर जैसा कबाड़ा हो रहा है, वह जिस तरह एक निर्वीर्य ढांचा बन कर रह गया है, उसका सीधा दवाब हमारी न्यायपालिका पर पड़ रहा है. यह पूरा न्यायतंत्र हमारे संविधान का बोझ उठा नहीं पा रहा है. लोकतंत्र के संदर्भ में वह अपनी कोई अर्थपूर्ण भूमिका न खोज पा रहा है, न समझ पा रहा है. एक औपनिवेशिक तंत्र का संरक्षण करने व यथास्थिति को बनाए रखने के लिए इसकी परिकल्पना की गई थी. इसलिए औपनिवेशिक तंत्र के साथ यह खप जाता था. जबसे लोकतंत्र के साथ तालमेल बिठाने की चुनौती इसके सामने आई है, यह हैरान-परेशान है. यह अकारण नहीं है कि ऊपर से नीचे तक की अदालतें बारंबार अपना होश खो बैठती हैं. हमारे मुख्य न्यायाधीश ने जिस तरह उन सब पर अपनी

खीज निकाली है जो बार-बार अदालतों को उनकी लोकतांत्रिक भूमिका की तरफ खींचते हैं, वह इसी असमंजस का परिणाम है.

कभी आम आदमी पार्टी से जुड़े रहे और इन दिनों अमरीका की बोस्टन यूनिवर्सिटी से पब्लिक रिलेशंस में मास्टर्स की पढ़ाई कर रहे अभिजीत दीपके ने बताया कि जब उन्होंने मुख्य न्यायाधीश की कॉक्रोच वाली टिप्पणी सुनी, तो अपनी पहली उबलती प्रतिक्रिया में एक ट्वीट लिखा : क्या हो अगर सभी कॉक्रोच एक साथ आ जाएं? अभिजीत बताते हैं कि उस ट्वीट को 7-8 सौ जवाबी पोस्ट मिले जिसमें ज्यादातर नई पीढ़ी के युवा व कॉलेज स्टूडेंट्स थेः ''सब कहने लगे कि हमें साथ आना चाहिए. मुझे लगा कि यहां कुछ क्रिएटिव और मजाकिया करने का मौका है.'' कोई बड़ा आंदोलन खड़ा करने जैसी बात नहीं थी. एक सहज, स्वाभाविक प्रतिक्रिया भर थी यह. फिर युवाओं को इस मुद्दे पर सीरियस होते देखा तो यह एक मूवमेंट ही बन गया.''

15 मई की रात से काम शुरू हुआ और अगले दिन यानी 16 मई को 'कॉकरोच जनता पार्टी' (सीजेपी) अस्तित्व में आईः ''हम एक ऐसी राजनीतिक पार्टी हैं जिसे यह व्यवस्था गिनती में भी नहीं लेती है. हमारा कोई प्रायोजक नहीं है. बस, एक विशाल, अड़ियल जनसमूह है हमारा!'' 48 घंटे के भीतर पर 25,000 से अधिक फॉलोअर्स बन गए. इंस्टाग्राम पर एक ही दिन में 13,000 से ज्यादा लोग जुड़ गए. कुल सदस्यता का आंकड़ा 50,000 को पार कर गया. सूचना अधिकार पर काम करने वाली एक्टिविस्ट **अंजलि भारद्वाज** ने हमारे घोषणापत्र में कुछ नए बिंदु जोड़े. तय हुआ कि सीजेपी एक राष्ट्रव्यापी पहल शुरू करेगी जिसके तहत युवा नागरिकों से उन मुद्दों पर सुझाव, विचार और प्रतिक्रियाएं आमंत्रित की जाएंगी जिन पर पार्टी को ध्यान केंद्रित करना चाहिए और जिस तरह का बदलाव वे देश-समाज में देखना चाहते हैं.

18 मई की रात 10 बजे पार्टी ने अपनी एक ऑनलाइन बैठक बुलाई जिसे 'रोचक सत्संग' का नाम दिया गया - रोचक से आशय कॉक्रोच से था, सत्संग से आशय साधु-संतों की बैठक से था. इस ऑनलाइन मीटिंग में युवाओं का सैलाब उमड़ पड़ा. जेन जेड जिन्हें कहा जा रहा है, वैसे छात्रों, बेरोजगार युवाओं, पत्रकारों और एक्टिविस्टों ने इसमें भाग लिया.

अभिजीत ने इस सत्संग में साफ कहा कि वे नेता बनने की महत्वाकांक्षा नहीं रखतेः ''मैं नेता नहीं बनना चाहता. मैं अपनी फोटो तक नहीं डालता. लोगों ने इसे इतनी गंभीरता से लिया कि मुझे आगे बढ़ना ही पड़ा हालांकि मैं चाहता था कि दूसरे आगे आएं.'' उनका कहना है कि भारत का युवा, खासकर जेन जेड इस वक्त

व्यवस्था से इतना निराश है जितना पहले कभी नहीं था. इस जेन जेड ने अपनी राजनीतिक चेतना के बाद से, दूसरा कुछ नहीं देखा है सिवा एक प्रधानमंत्री के! न कोई बदलाव, न किसी समस्या का समाधान! बेरोजगारी है, महंगाई है, और अपने भविष्य के प्रति घोर अनिश्चितता है. उनका यह मंच है और यह पार्टी लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्याप्त खामियों का विरोध करेगी. इसका भारतीय संविधान में दृढ़ विश्वास है और इसके मूल्यों की रक्षा के लिए यह सदैव कार्य करेगी. मीटिंग में इस पर भी चर्चा हुई कि किस तरह सत्ता के विरोध में उठने वाली हर आवाज को दबाया जाता है. सोनम वांगचुक सरीखे उदाहरणों की बात भी हुई कि सिस्टम की खामियां बताने वालों के पीछे ईडी आदि लग जाती है और विपक्ष एकदम बेबस और लाचार दिखता है. सीजेपी ने कहा कि हम ऐसे खतरों से पूरी तरह अवगत हैं. हमें खत्म करने के व हमें असामाजिक तत्व बताने के हर संभव प्रयास किए जाएंगे. लेकिन हम साफ कर देना चाहते हैं कि हम भारत के संविधान में दृढ़ विश्वास रखते हैं और हमेशा इसके मूल्यों की रक्षा की दिशा में काम करेंगे.

एक खुला पत्र

लोकनायक जयप्रकाश द्वारा स्थापित 'सिटिजंस फॉर डेमोक्रेसी' ने भारत के मुख्य न्यायाधीश को एक खुला पत्र भेजा है जिसे हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं.

महोदय,

'सीटिजंस फॉर डेमोक्रेसी' आपके उस बयान का कड़ा विरोध करता है जिसमें आपने पर्यावरणविदों, सूचना-अधिकार कार्यकर्ताओं और अन्य लोगों की तुलना कॉक्रोच और परजीवियों से की है. एक वकील द्वारा 'वरिष्ठ अधिवक्ता' का दर्जा मांगने वाली याचिका पर सुनवाई करते हुए, 15 मई, 2026 को आपने अदालत में कहाः ''समाज में पहले से ही ऐसे परजीवी मौजूद हैं जो व्यवस्था पर हमला करते हैं, और आप उनके साथ हाथ मिलाना चाहते हैं?.... कुछ युवा कॉकरोच की तरह होते हैं, जिन्हें न तो कोई रोजगार मिलता है, न ही पेशे में कोई जगह. फिर उनमें से कुछ मीडिया में चले जाते हैं, कुछ सोशल मीडिया में, कुछ सूचना अधिकार के तो दूसरे कहीं और कार्यकर्ता बन जाते हैं, और फिर वे हर किसी पर हमला शुरू कर देते हैं.''

आपके इस बयान से भारी रोष और गुस्सा फैल गया. आपने अपनी

स्थिति स्पष्ट करने की कोशिश में अगले दिन एक सफाई दीः "मुझे यह पढ़कर बहुत दुख हुआ कि मीडिया के एक वर्ग ने कल एक 'तुच्छ' मामले की सुनवाई के दौरान मेरे द्वारा मौखिक रूप में की गई टिप्पणियों को किस तरह तोड़-मरोड़कर पेश किया है. मैंने विशेष रूप में उन लोगों की आलोचना की थी जिन्होंने फर्जी और जाली डिग्रियों के सहारे वकालत जैसे क्षेत्रों में प्रवेश पा लिया है. यह कहना पूरी तरह से बेबुनियाद है कि मैंने हमारे देश के युवाओं की आलोचना की है. मुझे न केवल हमारे वर्तमान और भविष्य के मानव संसाधनों पर गर्व है, बल्कि भारत का हर युवा मुझे प्रेरित करता है.

यह एक बेहद कमजोर सफाई है. क्या आप न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठकर स्वयं की दी ऐसी सफाई स्वीकार करते? आपके लिए उचित तो यह होता कि आप अपनी उन कटु और अनुचित टिप्पणियों को वापस ले लेते और अनजाने में हुई अपनी इस चूक के लिए माफी मांग लेते. सबसे अधिक चौंकाने वाली बात यह है कि आपकी यह टिप्पणी, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के उस बयान के साथ एकदम जुड़ जाती है जिसमें उन्होंने कार्यकर्ताओं को 'आंदोलनजीवी' बताया था. उन्होंने सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को दूसरे भी कई नाम दिए हैंः अर्बन नक्सल, लुटियंस दिल्ली गैंग, खान मार्केट गैंग. प्रधानमंत्री ने उन्हें व अपने से असहमत हर किसी को बेझिझक 'राष्ट्र विरोधी' भी कहा है. हम समझते हैं कि वे हम जैसे कार्यकर्ताओं को क्यों नापसंद करते हैं.

लेकिन जब आप भी उनकी ही भाषा बोलते मिलते हैं, तब हमें परेशान होती है. आप तो राजनीतिक नेता नहीं, न्यायपालिका से संबंध रखते हैं. हम कार्यकर्ताओं का, देश के नागरिकों का अब तक न्यायपालिका पर, विशेष रूप में उच्च न्यायपालिका पर भरोसा रहा है. लेकिन आपकी इस पक्षपातपूर्ण और बिना मांगी टिप्पणी से उस भरोसे को चोट पहुंची है. हम यह सोचने पर मजबूर हुए हैं कि आप जैसों के निजी पूर्वाग्रहों का कितना असर उन फैसलों पर पड़ता है जिन्हें आप लंबे-लंबे, विद्वतापूर्ण तर्कों में लपेट कर पेश करते हैं?

आपको हम 20 अगस्त 2024 की याद दिला रहे हैं. किशोरों के निजता के अधिकार के संबंध में स्वतः संज्ञान लेकर जस्टिस अभय एम. ओका और जस्टिस उज्ज्वल भुइयां की सुप्रीम कोर्ट बेंच ने कलकत्ता हाईकोर्ट के एक फैसले को रद्द करते हुए उसकी टिप्पणियां पर अपनी नाराजगी जाहिर की थी. ओका-भुइयां बेंच ने कहा थाः "कोर्ट के किसी भी फैसले में

कॉक्रोच जनता पार्टी का घोषणापत्र कहता हैः

1. यदि सीजेपी सत्ता में आई तो कोई भी मुख्य न्यायाधीश सेवानिवृत्ति के बाद राज्यसभा सीट नहीं पाएगा. न्यायपालिका की स्वतंत्रता और निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए यह कदम अनिवार्य है.
2. यदि किसी भी राज्य में चाहे वह सीजेपी शासित हो या विपक्ष का हो, कोई एक वैध वोट भी डिलीट होता है, तो मुख्य चुनाव आयुक्त को यूएपीए के तहत गिरफ्तार किया जाएगा. एक नागरिक का भी मताधिकार छीनना आतंकवाद से कम नहीं.
3. संसद की सीटें बढ़ाए बिना महिलाओं को 33% नहीं, 50% आरक्षण दिया जाएगा. इसके साथ ही 50% कैबिनेट पद भी महिलाओं के लिए आरक्षित होंगे.
4. अंबानी और अडाणी के स्वामित्व वाले सभी मीडिया हाउसों के लाइसेंस रद्द किए जाएंगे ताकि सच्चे, स्वतंत्र मीडिया के लिए जगह बने. गोदी मीडिया एंकरों के बैंक खातों की जांच होगी.
5. जो भी विधायक या सांसद दल-बदल करेगा, उसे 20 वर्षों

जज के निजी विचार शामिल नहीं हो सकते हैं. इसी तरह कोर्ट पार्टियों को या आम तौर पर समाज को सलाह देकर अपने क्षेत्राधिकार का इस्तेमाल नहीं कर सकता है. जज का काम सामने आए मामले पर फैसला देना होता है, न कि उपदेश देना.''

हमें लगता है कि सभी अदालतों के सभी जज साहबानों के लिए ओका-भुइयां बेंच के ये शब्द स्वर्णाच्छरों में लिख लेने लायक हैं. हम जानते हैं कि निजी पूर्वाग्रह न्यायिक अतिरेक में भी झलक सकता है. हम उमर खालिद और शरजील इमाम की जमानत अर्जी का ही उदाहरण लें जिसे उस बेंच ने खारिज कर दिया है जिसमें आप भी शामिल थे. न केवल उनकी जमानत अर्जी खारिज की गई, बल्कि आपने उन्हें एक साल तक दोबारा जमानत अर्जी लेकर आने में भी रोक दिया. आपके इस फैसले में हमें आपके निजी पूर्वाग्रह के अलावा कोई दूसरा तर्क नजर नहीं आता कि आप एक साल तक उमर-शरजील जैसे 'तिलचट्टों' को नहीं देखना चाहते हैं.

आंदोलनात्मक सक्रियता न्यायपालिकाओं के लिए कोई नई चीज नहीं है. हमारी न्यायपालिका की भी 'न्यायिक सक्रियता' की एक परंपरा रही है. कानूनविद उपेंद्र बख्शी ने इसकी एक परिभाषा भी दी हैः

''एक एक्टिविस्ट जज वह होता है जिसने उस सत्ताधारी वर्ग की उम्मीदों को तोड़ा हो जिसने उसे जज की कुर्सी पर बिठाया था.''

5 जजों का एक आदेश हमें याद आता है: ''अदालतों को न्यायिक कार्यवाही के दौरान ऐसी टिप्पणियां करने से सावधान रहना चाहिए, जिन्हें महिला-विरोधी या हमारे समाज के किसी भी वर्ग के प्रति पक्षपातपूर्ण माना जा सकता हो.''

माई लॉर्ड, हम तिलचट्टे 65 मिलियन साल पहले जुरासिक युग में अस्तित्व में आए थे. तब डायनासोर धरती पर घूमा करते थे. एक आसमानी आफत ने हमारे इन विशालकाय दोस्तों को इस ग्रह से मिटा दिया, लेकिन हम बच गए; और हम बचे रहेंगे. तानाशाहों के बूट किसी एक तिलचट्टे को भले कुचल दें, हमारी प्रजाति बची रहेगी. हम कल भी थे, आज भी हैं, कल भी होंगे. जब तक जन-विरोधी नीतियां समाज में रहेंगी, हमारा अस्तित्व भी बना रहेगा. हम असमानता और अन्याय से भरे इस तंत्र के ही एक उप-उत्पाद हैं. दुर्भाग्य से आप दीमकों को नहीं देख पाए! वे आपकी किताबें, फर्नीचर, अलमारियां और आपके घर के दरवाजे तक चट कर जाते हैं. वे उन सरकारी फाइलों को भी खा जाते हैं जिन्हें आप जांच-पड़ताल के लिए बाजवक्त मंगवाते रहते हैं. इतना ही नहीं, वे तो पूरे-के-पूरे जंगल खा जाते हैं. हमारे जंगलों का बेरहमी से जो दोहन हो रहा है, वह इन दीमकों द्वारा ही किया जा रहा है. हम हैं तो सिर्फ इसलिए कि हम इन दीमकों को बता सकें कि वे और कुछ नहीं, बस दीमक ही हैं जो किसानों-मजदूरों द्वारा बनाए गए इस देश को भीतर से खोखला कर रहे हैं.

माई लॉर्ड, आप सहमत हों या न हों, हम तिलचट्टे तो यही मानते हैं कि समाज के वंचित तबकों के हितों की रक्षा करना ही न्यायपालिका का सबसे पहला और सबसे अहम कर्तव्य है. यह पुण्य कमाने या कृपा करने वाली बात नहीं है. हमारे संविधान ने न्यायपालिका की कुंडली में ही यह लिख दिया है. सामाजिक कार्यकर्ता और 'विकास' की भेंट चढ़े पीड़ित लोग आपके पास आते ही रहेंगे. हमारी मौजूदगी से नाराज होने का आपके पास कोई कारण नहीं है. हम वंचितों की हितरक्षा का अपना संवैधनिक कर्तव्य निभा रहे हैं, आगे भी निभाते रहेंगे. अब यह फैसला तो आपको करना है कि आप संविधान के साथ खड़े होकर हम तिलचट्टों का साथ देंगे या फिर दीमकों के हितों की रक्षा करेंगे.

सादर, आनंद कुमार (अध्यक्ष),
शशि शेखर प्रसाद सिंह (महासचिव)

तक न तो चुनाव लड़ने का अधिकार होगा, न ही किसी सार्वजनिक पद पर रहने का. दल-बदल का अर्थ होगा- राजनीतिक मृत्यु!

पार्टी ने अपने विजन स्टेटमेंट में लिखाः ''हम यहां कोई दूसरा 'पीएम केयर्स' बनाने या टैक्स देने वालों की कमाई पर दावोस में छुट्टियां मनाने या भ्रष्टाचार को 'रणनीतिक खर्च' का नया नाम देने के लिए नहीं आए हैं. हम तो यहां यह पूछने आए हैं, जोर-जोर से और बार-बार और लिख-लिख कर पूछने आए हैं कि यह सारा पैसा आखिर गया कहां?''

यह आंदोलन हास्य-व्यंग्य और डिजिटल सक्रियता के जरिए बेरोजगार और निराश युवाओं की आवाज बनने का प्रयास है. हमें इसे सहानुभूति से देखना चाहिए.

एक खुला पत्र

मुख्य न्यायाधीश महोदय,

आपकी प्रचलित सामंती उपाधियों की अनदेखी करने के लिए क्षमा चाहता हूं. कल हमने आपकी टिप्पणी पढ़ी. आपने पत्रकारों, सूचना-अधिकार का इस्तेमाल करनेवाले कार्यकर्ताओं तथा सोशल मीडिया पर सक्रिय लोगों के खिलाफ जहरीली भाषा बोली और उन्हें 'तिलचट्टा' और 'परजीवी' कहा है. संवैधनिक पदों पर बैठकर, अपने नागरिकों को खुलेआम धमकियां देना संवैधानिक दायित्व का कैसा निर्वाह है, मैं नहीं जानता. एक सामान्य भारतीय नागरिक के लिए, जिसके अधिकारों की रक्षा करने की संवैधानिक जिम्मेदारी आप पर है, यह स्तब्धकारी अनुभव है. आपने बाद में अपनी सफाई में जो कहा उसने इस स्तब्धकारी माहौल को और ज्यादा ही गंदला बना दिया है. उस सफाई से इतना ही साफ हुआ कि आप बेरोजगार, बेडिग्रीधारी, बेहैसियत युवाओं के प्रति गहरी हिकारत का भाव रखते हैं. कैसी विडंबना है कि संविधान जिन लोगों के प्रति राज्य को अधिकाधिक संवेदनशील व जवाबदेह होने की हिदायत देता है, उसी संविधान की सौगंध खा कर, उसकी सबसे ऊंची कुर्सी पर बैठा आदमी मानता है कि उसके लोकतंत्र में ऐसे तिलचट्टों की कोई जगह नहीं है.

कुछ दिन पहले आपने पर्यावरण कार्यकर्ताओं को अपमानित किया था; ट्रेड यूनियनों के खिलाफ सतही टिप्पणियां की थीं. मुझे खूब याद है

कि आपने कई मौकों पर भारत के नागरिकों को धमकियां भी दी हैं. ये वे ही नागरिक हैं जिन्होंने अपने लिए वह संविधान बनाया है जिसमें से आपका जन्म हुआ है. एक वर्ष पहले, अली महमूदाबाद मामले में आपने छात्रों और प्राध्यापकों को प्रोफेसर अली महमूदाबाद के उत्पीड़न के खिलाफ बोलने पर धमकाया थाः ''अगर उन्होंने कुछ करने की हिम्मत की, तो हम आदेश पारित कर देंगे; हम जानते हैं कि ऐसे लोगों से कैसे निपटना है; 'इंडिया गॉट लेटेंट' मामले में भी आप ही थे जिन्होंने अभिव्यक्ति की संवैधानिक स्वतंत्रता का बचाव करने वालों को धमकाया थाः 'हम जानते हैं कि कुछ लोग अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता आदि के नाम पर लेख लिख रहे हैं; हम यह भी जानते हैं कि उनसे कैसे निपटना है'. आपके ऐसा कहने के बाद ही हमें ख्याल आया कि बस हम ही हैं कि जो संविधान तो बना सकते हैं लेकिन किससे, कैसे निबटना है, यह नहीं जानते हैं.

आपको याद न हो तो मैं याद करवाता हूं कि यही सामाजिक कार्यकर्ता, युवा, मजदूर यूनियन के लोग हैं कि जिनके अथक संघर्ष से वह संविधान पैदा हुआ है जिसकी कुर्सी पर आप बैठे हैं. इन लोगों ने ही संघर्ष करके वे अधिकार हासिल किए हैं जिन पर आप आज हमला कर रहे हैं. वह संविधान इनका हासिल है जिसकी सेवा की शपथ आपने ली है. सेवा का मतलब शासन नहीं होता है. क्या आपको लगता है कि ये लोग येनकेन कारेण संवैधानिक पदों पर जा बैठे लोगों की धमकियों से डर कर, लंबे संघर्ष से हासिल अपने अधिकार छिन जाने देंगे? नहीं, ऐसा न हुआ है, न होगा.

हम आपकी बातें सुन कर हैरान जरूर हैं, भयभीत नहीं. हैरान इसलिए हैं कि जिस कुर्सी से हमने कुछ दूसरी ही भाषा व दिशा की आशा लगा रखी थी, वह इतनी खोखली व सतही निकली; भयभीत इसलिए नहीं हैं कि जिसे हमने बनाया है, उसे बदलने का साहस भी हममें है व इल्म भी.

मैं हूं भारत का एक नागरिक

ऋषि आनंद

एक खुला पत्र

प्रिय श्री नरेंद्र मोदीजी,

आप देश के निर्वाचित नेता हैं. एक नागरिक होने के नाते मैं अपना कर्तव्य समझता हूं कि वैसी सार्वजनिक शिकायतें आपके ध्यान में लाता रहूं जो प्रधानमंत्री के नाते आपको जाननी चाहिए. इसी भावना से यह खुला पत्र लिख रहा हूं.

राष्ट्र के नाम आपका ताजा संबोधन मुझे बहुत नागवार लगा. ऐसा नहीं है कि आप ही पहले प्रधानमंत्री हैं जिसने दूरदर्शन और आकाशवाणी से राष्ट्र को संबोधित किया है. दूसरे भी कई हैं लेकिन ऐसे तमाम भाषणों को देखा जाइए तो आपको पता चलेगा कि सच में आप पहले ही प्रधानमंत्री हैं जिसने ऐसे सार्वजनिक संस्थानों का इस्तेमाल अपने लिए वोट मांगने के लिए किया. मुझे आश्चर्य है कि स्वायत्त माने जाने वाले इन संस्थानों ने आपको ऐसा करने की अनुमति कैसे दी; और चुनाव आयोग ने आपका माइक्रोफोन उसी तरह क्यों बंद नहीं करवाया जिस तरह लोकसभा के अध्यक्ष अक्सर सदन में करवाते रहते हैं?

मुझे आश्चर्य है कि स्वायत्त माने जाने वाले इन संस्थानों ने आपको ऐसा करने की अनुमति कैसे दी; और चुनाव आयोग ने आपका माइक्रोफोन उसी तरह क्यों बंद नहीं करवाया जिस तरह लोकसभा के अध्यक्ष अक्सर सदन में करवाते रहते हैं?

बड़ी कठिनाई से मैंने आपका उस दिन का भाषण सुना. आपने उसमें कांग्रेस का नाम 57 बार लिया. फिर आपने अखिल भारतीय तृणमूल कांग्रेस, समाजवादी पार्टी और द्रविड़ मुनेत्र कषगम का भी नाम लिया. देश के करोड़ों लोगों की तरह मुझे भी लगा कि आप कांग्रेस व दूसरे विपक्षी दलों से घबराए हुए हैं तथा 'कांग्रेस-मुक्त भारत' का नारा देने के 12 वर्ष बाद भी आप देश को कांग्रेस-मुक्त बनाने में असफल रहे हैं.

मैं यह मानने को तो तैयार नहीं कि आपने बिना सोचे-समझे संसद का विशेष सत्र बुलाकर महिला आरक्षण विधेयक पारित कराने की कोशिश की. आपको व आपके सलाहकारों को इतना तो पता था ही कि आपके नेतृत्व में चलने वाले एनडीए के पास पर्याप्त संख्याबल नहीं है. फिर यह विधेयक लाया क्यों गया? मेरा आरोप

है कि आपने जानबूझकर ऐसा किया ताकि यह विधेयक गिर जाए और आप स्वयं को महिलाओं के संरक्षण में हुए शहीद का दर्जा हथिया सकें. महिलाओं के नाम पर लाए आपके विधेयक का एकमात्र उद्देश्य पश्चिम बंगाल की महिला मुख्यमंत्री को पराजित करना था.

आपका उस रोज का प्रसारण सुनते हुए मुझे अंग्रेजी का एक ही मुहावरा बार-बार याद आ रहा था : बहुत चालाक बनने की कोशिश में लोग मूर्ख बन जाते हैं- टू क्लेवर बाई हाफ! यह कहना शिष्टता नहीं होगी कि आपका भाषण साफ-साफ झूठ था, इसलिए मैं कहता हूं : आपका वह भाषण सच व झूठ का फर्क मिटा रहा था. आपने उस भाषण में कहीं यह नहीं बताया कि वे आप ही थे जिसने सितंबर 2023 यही महिला आरक्षण विधेयक संसद में पेश किया था. तब 456 सांसद उपस्थित थे और दो सांसदों, ओवैसी साहब और उनके सहयोगी इम्तियाज जलील साहब को छोड़कर बाकी सारे सांसदों ने, 99.56% समर्थन दे कर विधेयक को पारित किया था. आपने ऐसे दुर्लभ संसदीय समर्थन का जिक्र क्यों नहीं किया? आप ऐसा करते तो यह झूठ कैसे चलाया जाता कि कांग्रेस और अन्य विपक्षी दल महिला आरक्षण के विरोधी हैं! यदि आपने ऐसी राजनीतिक बेईमानी न की होती तो आज लोकसभा में 78 नहीं, 180 महिला सांसद होतीं! आपकी राज्यसभा में उनकी स्थिति और भी खराब है 224 में केवल 24 महिलाएं!

यह कहना शिष्टता नहीं होगी कि आपका भाषण साफ-साफ झूठ था, इसलिए मैं कहता हूं : आपका वह भाषण सच व झूठ का फर्क मिटा रहा था

आपने चतुराई से, जिसे मैं राजनीतिक बेईमानी कहता हूं, महिलाओं ने आरक्षण को निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमन से जोड़ दिया- वह भी 2027 की जनगणना के आधार पर. एक तीर से दो शिकार—महिला आरक्षण को अनिश्चितकाल तक टाल देना और उसका ही श्रेय लेकर वोट भी ले लेना. आपने असत्य की चाशनी में लपेट कर यह तो कहा कि पंचायतों, नगरपालिकाओं और अन्य स्थानीय निकायों में महिलाओं को 33% आरक्षण मिला हुआ है लेकिन भूल से भी यह नहीं कहा कि यह संभव ही इसलिए हुआ कि देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने 1959 में, गांधी जयंती के दिन राजस्थान के नागौर में पंचायती राज की व्यवस्था घोषित की थी. आपने उस रोज संसद को यह भी नहीं बताया कि प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए 33% आरक्षण का विधेयक प्रस्तुत किया था. लोकसभा में वह पारित भी हो गया था पर राज्यसभा में पारित नहीं हो सका, क्योंकि भाजपा ने, अटल बिहारी वाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी और राम

जेठमलानी ने उसका विरोध किया. भाजपा ने ऐसा किया लेकिन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने तब भी भाजपा पर हमला करने के लिए दूरदर्शन और आकाशवाणी का दुरुपयोग नहीं किया. अंततः यह कानून पी. वी. नरसिंह राव की सरकार ने पारित कराया.

आपने कांग्रेस को कोसा कि उसने आपके महिला विधेयक को रोका. आप कहते हैं कि महिलाएं कांग्रेस को कभी माफ नहीं करेंगी. यदि आपको इतना भरोसा है कि महिलाएं कांग्रेस से नाराज हैं, तो फिर कांग्रेस को कोसने में इतना राष्ट्रीय संसाधन और समय क्यों नष्ट किया?

अपने भाषण में आपने कहा कि परिसीमन से हर राज्य की सीटें बढ़ेंगी. यह कैसी अटपटी बात कही आपने!

सब जानते हैं कि आपका असली लक्ष्य परिसीमन था. इसे महिला आरक्षण से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी. हमने देखा है कि जब महिला खिलाड़ियों ने आपकी पार्टी के एक सांसद के विरुद्ध शिकायत की, तो आपकी सरकार ने उनके साथ क्या किया; हमने देखा कि जिन्हें आपने राष्ट्रपति बनाया उन द्रौपदी मुर्मू के साथ आपने तब कैसा व्यवहार किया जब नए संसद भवन का और अयोध्या के राम मंदिर का उद्‌घाटन हुआ. आपकी सरकार के भी सारे निर्णय तो राष्ट्रपति के नाम से ही होते हैं लेकिन ऐसे सार्वजनिक मंच पर आपने उन्हें इसलिए आने नहीं दिया क्योंकि संवैधानिक वरीयता वे आपसे ऊपर आती हैं, तो समारोह का सारा प्रकाश उन पर पड़ता, आप पर नहीं.

हमने लगभग एक ही समय अपने-अपने करियर शुरू किए—आपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता के रूप में, और मैंने दिल्ली में पत्रकार के रूप में. जब मैंने पत्रकारिता शुरू की, तब मेरे कार्यक्षेत्र में स्वास्थ्य और परिवार नियोजन मंत्रालय भी था. तब डॉ. कर्ण सिंह इस मंत्रालय का नेतृत्व करते थे. तब सरकार 'हम दो, हमारे दो' को प्रचारित करने का हर संभव प्रयास कर रही थी. प्रेस इन्फॉर्मेशन ब्यूरो ने दिल्ली से पत्रकारों का एक दल तमिलनाड में परिवार नियोजन की प्रगति देखने के लिए भेजा था. मैं भी उस दल में शामिल था. सारे देश में जनसंख्या नियंत्रण का अभियान चल रहा था. 1977 में जनता पार्टी, जिसमें आपकी पार्टी भी एक घटक थी, सत्ता में आई. उसने परिवार नियोजन को 'परिवार कल्याण' में बदल दिया. छोटे परिवार का अभियान उत्तर भारत में अपनी गति खो बैठा. हिंदी पट्टी के राज्यों में परिवार नियोजन कभी जड़ नहीं पकड़ सका.

कहा जाता है कि शिक्षा सबसे अच्छा गर्भनिरोधक है. हिंदी पट्टी के राज्यों

में शिक्षा का पिछड़ापन भी था. तो इस पट्टी में परिवार नियोजन की बात कमजोर ही रही. इधर दक्षिणी राज्यों ने जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित कर लिया. परिणाम यह हुआ कि केरल या लक्षद्वीप का एक सांसद, उत्तरप्रदेश या बिहार के एक सांसद की तुलना में कम जनसंख्या का प्रतिनिध्वि करने लगा. वही हाल आज भी है. यह राजनीतिक शक्ति के अर्थ में दक्षिण के लिए नुकसानदेह था. इसलिए संसद में सीटों की कुल संख्या स्थिर कर, दक्षिणी राज्यों को आश्वस्त किया गया. अब आप परिसीमन के माध्यम से सांसदों की संख्या बढ़ाना चाहते हैं लेकिन आपने कभी स्पष्ट नहीं किया कि परिसीमन से आपका आशय क्या है. यदि जनगणना के आधार पर, राज्यों की आबादी के अनुपात में सीटें तय की गईं, तो तमिलनाडु और केरल जैसे दक्षिणी राज्य, मिजोरम और मेघालय जैसे पूर्वोत्तर राज्य संसद में अपनी प्रभावशीलता खो देंगे. अपने भाषण में आपने कहा कि परिसीमन से हर राज्य की सीटें बढ़ेंगी. यह कैसी अटपटी बात कही आपने! यदि केरल की सीटें 20 से बढ़ाकर 30 कर दी जाएं, तो वहां एक सांसद के हिस्से में बहुत कम जनसंख्या आएगी. इसे संतुलित करने के लिए आप बिहार, उत्तरप्रदेश जैसे राज्यों में सांसदों की संख्या बढ़ाएंगे. आपका सारा खेल यहीं पकड़ा गया. संतुलन के नाम से आप हिंदी पट्टी में सांसदों की संख्या बढ़ा लेना चाहते हैं ताकि आपका बहुमत सुरक्षित रहे.

आपका सारा खेल यहीं पकड़ा गया. संतुलन के नाम से आप हिंदी पट्टी में सांसदों की संख्या बढ़ा लेना चाहते हैं ताकि आपका बहुमत सुरक्षित रहे.

आप आंकड़ों का वह विचित्र खेल खेलना चाहते थे कि जिसमें सच्चाई छिप जाती है. मान लीजिए, एक मालिक पांच लाख रुपये कमाता है और उसका रसोइया पांच हजार. दोनों की आय दोगुनी कर दी जाए, तो मालिक दस लाख कमाएगा, रसोइया दस हजार. दोनों की आय तो दोगुनी हुई लेकिन दोनों के बीच असमानता की खाई कितनी चौड़ी हो गई! प्रतिशत का यह गणित वास्तविकता को ढक देता है.

शासन की गुणवत्ता सांसदों की संख्या से तय नहीं होती है. क्या आपको सचमुच लगता है कि 2,000 सांसद होने से भारत अधिक महान हो जाएगा? अमरीका की सीनेट में कुल 100 सदस्य हैं. 50 राज्य हैं वहां तो 2 सीनेटर उनमें से प्रत्येक का प्रतिनिधित्व करते हैं फिर चाहे उनकी आबादी कितनी भी हो. उनका कार्यकाल 6 वर्ष का होता है, और हर 2 वर्ष बाद लगभग एक-तिहाई सीनेटरों का चुनाव होता है ठीक हमारी राज्यसभा की तरह. आकार की दृष्टि से अलास्का रोड आइलैंड से 400 गुना बड़ा है; कैलिफोर्निया की आबादी 3.9 करोड़ है जबकि

वायोमिंग की केवल 6 लाख फिर भी दोनों अमरीकी सीनेट में दो-दो सदस्य ही भेजते हैं.

जनसंख्या को ही निर्णायक आधार बनाएंगे आप तो इसका अर्थ होगा उन राज्यों को दंडित करना जिन्होंने परिवार नियोजन में बेहतर काम किया. दुर्भाग्य से आपके नेता परिवार नियोजन में विश्वास करते नहीं दिखते. वे तो अधिक बच्चे पैदा करने का आह्‍वान करते रहते हैं. हमने देखा है कि जब फलस्तीनियों को इस्राइल से बेदखल किया जा रहा था, तब यह गंदा काम करने के लिए आपने 10 हजार भारतीयों को वहां भेजने की सुविधा कर दी थी. क्या यह भारतीयों के लिए गर्व का विषय है? हम कहां पहुंच गए हैं? आप बार-बार दावा करते हैं कि महिला विधेयक पारित ही नहीं हुआ जबकि वह 2023 में 99.56% मतों से पारित हो चुका है. यह आप भी जानते हैं, हम भी; फिर यह सफेद झूठ क्यों?

अंत में मैं बाइबिल की इन पंक्तियों की याद आपको करना चाहता हूं : 'यदि मनुष्य सारा संसार प्राप्त कर ले, पर अपनी आत्मा खो दे, तो उससे क्या लाभ?' (मार्क 8:36). भगवद्‌गीता में भी यही प्रतिध्वनित होता है. सच्ची उपलब्धिबाहरी विजय में नहीं, धर्म के पालन में निहित है.

भवदीय,

ए. जे. फिलिप

(लेखक देश के वरिष्ठ पत्रकारों में एक हैं.)

मेरी अस्पृश्यताविरोधी लड़ाई
मानवता की अशुद्धता के विरुद्ध है.

● महात्मा गांधी

आकलन

हमारा लोकतंत्र पूछ रहा है

० पुण्य प्रसून वाजपेयी

जैसे जमीन के भीतर अंकुरित होता बीज ऊपर दिखाई नहीं देता है वैसे ही समाज के भीतरी तल की छटपटाहट भी ऊपर से दिखाई नहीं देती है. लेकिन वह बीज कहीं है, यह किसान जानता है; वह छटपटाहट कहीं है वह पहचानता है. कभी महात्मा गांधी ने वह छटपटाहट पहचानी थी और उसे ताकत में बदल लिया था. लेकिन आज?

ये देश खुले आसमान तले उस खुली राजनीति के लिए तैयार है जो एक वक्त महात्मा गांधी ने सिखायी तथा की थी? आजादी के दिन वे संसद से कोसों दूर, कोलकाता के बेलियाघाट में हैदरी-मंजिल के एक अंधेरे-से कमरे में बैठे थे, क्योंकि उन्हें तब की संसद के भीतर से कोई रोशनी दिखाई नहीं दे रही थी.

आजादी के 75 बरस बीत चुके हैं और आज भी संसद सत्ता का केंद्र है, देश के सियासत की धुरी है. लेकिन आज भी वहां से कोई रोशनी आती नहीं है. क्या ऐसा संभव है कि एक झटके में विपक्ष यह कहकर संसद से निकल कर बाहर खड़ा हो जाए कि यह संसद सत्ता का कॉफी शॉप बन गई है जहां सत्तावाले आरामतलबी करते हैं, अपने अनुकूल नियम-कायदे बनाते हैं, विधेयक पास करवाते हैं, और देश के चुनाव आयोग से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक सबको इन्होंने मैनेज कर रखा है? क्या यह संभव है?

सोचना विपक्ष को है कि महात्मा गांधी जिस सोच को और जैसी जिंदगी को जी गए वह पांचसितारा नहीं थी. वे जानते थे कि इस देश की हकीकत उन गांवों में बसती है जिनसे भारत की संसद व उसके प्रतिनिधि कोसों दूर बसते हैं. ध्यान

दीजिए कि यह क्या हुआ है कि विपक्ष के नेता के तौर पर राहुल गांधी पहली बार एक साफ लाइन ले रहे हैं कि आप कोई भी चुनाव लड़ लीजिए, आपको हार ही मिलेगी, क्योंकि मौजूदा राजनीतिक सत्ता ने सब कुछ अपनी हथेली में दबोच रखा है. इसलिए वे इंडिया गठबंधन के साथियों से सीधा कह रहे हैं: तरीके बदलने होंगे! आप चुनाव आयोग के दरवाजे पर जाकर कहते रहें कि लोकतंत्र चुरा लिया गया, कि वोट चोरी के बाद सीट चोरी की परिस्थिति आ गई, तो भी वहां कोई सुनवाई नहीं होगी.

आप चुनाव आयोग के दरवाजे पर जाकर कहते रहें कि लोकतंत्र चुरा लिया गया, कि वोट चोरी के बाद सीट चोरी की परिस्थिति आ गई, तो भी वहां कोई सुनवाई नहीं होगी

मसला सिर्फ प्रतिरोध का नहीं है. मसला यह है कि बीते 12 वर्षों में जो भी राजनीतिक प्रयोग कांग्रेस ने किए या कहें कि विपक्ष ने किए, इंडिया गठबंधन बना फिर भी भाजपा 240 सीटें जीत कर सरकार बना ले गई. राहुल गांधी इस हकीकत को बयां करने से चूकते नहीं हैं कि 2024 का चुनाव हम जीत सकते थे, मार्जिन पर खड़े थे हम लेकिन इंडिया गठबंधन जिस सोच में से पैदा हुई थी वह सोच ही बरकरार नहीं रही. उन्होंने पूछा कि नीतीश कुमार साथ छोड़कर क्यों चले गए; और फिर बताया कि कांग्रेस ने उन्हें दूर नहीं किया, उन्होंने खुद ही खुद को दूर कर लिया. वह कौन नेता है जो ऐसे हालात को उकसा रहा है? ऐसे नेताओं की राजनीतिक हकीकत क्या है? ऐसे नेताओं की राजनीतिक जमीन क्या उनको भी आने वाले चुनाव जिता पाएगी? राहुल गांधी को लगता है कि अब यह संभव नहीं है.

राहुल गांधी जिस राजनीति को साधना चाहते हैं, वह खुले आसमान की राजनीति ही हो सकती है. आप चुनाव आयोग के दरवाजे पर जाकर कहते रहें कि लोकतंत्र चुरा लिया गया, कि वोट चोरी के बाद सीट चोरी की परिस्थिति आ गई, तो भी वहां कोई सुनवाई नहीं होगी. इसलिए पहली बार राहुल गांधी कहते हैं कि मैं समझ गया हूं, अब आप भी समझ जाइए कि मौजूदा वक्त में न तो कानून का राज है, न डेमोक्रेसी है.

आज यह सवाल क्यों? 12 बरस से विपक्ष क्या कर रहा था? यह मानकर चल रहा था कि देश में लोकतंत्र तो है, लोकतंत्र को संभालने वाले संस्थान भी हैं. हर संस्थान अपने तौर पर काम करेगा तो विपक्ष को अपनी भूमिका में काम करने का अवसर मिलेगा ही. लेकिन 12 वर्षों में शनै-शनै ऐसी स्थिति बनती गई कि कोई संस्थान अपनी जगह पर साबुत नहीं बचा. इसलिए पहली बार राहुल

गांधी कहते हैं कि मैं समझ गया हूं, अब आप भी समझ जाइए कि मौजूदा वक्त में न तो कानून का राज है, न डेमोक्रेसी है.

जब सब कुछ ऐसा दिखाई दे रहा है तो फिर विपक्ष या राहुल गांधी 12 सालों से कौन-सी राजनीतिक साध रहे हैं? सुप्रीम कोर्ट में राफोल की खरीद का मुद्‌दा पहुंचा -उसके दी गई घूस, उसकी बढ़ी हुई कीमत, अनिल अंबानी यानी तमाम चीजों का जिक्ऱ हुआ. फिर सुप्रीम कोर्ट ने क्या कहा? उसने कहाः खरीद कितने में हुई, यह रकम हम नहीं बतलाएंगे, क्योंकि यह राष्ट्रीय सुरक्षा का मसला है. विपक्ष को लगा कि सही, यह राष्ट्रीय सुरक्षा का मसला हो सकता है. इसलिए सुप्रीम कोर्ट पर भरोसा क्यों ना किया जाए!

फिर याद कीजिए इलेक्ट्रोरल बांड का मामला. सुप्रीम कोर्ट का फैसला हुआ कि यह व्यवस्था असंवैधानिक है, कि बांड का पैसा काला धन है. लेकिन उस धन को ज़ब्त करने का आदेश देने को वह तैयार नहीं हुआ. विपक्ष को फिर लगा कि सुप्रीम कोर्ट की हैसियत को कोई चुनौती कैसे दे सकता है! इलेक्ट्रोरल बांड के पीछे क्रोनी कैप्टलिज्म, कारपोरेट से खुली सांठगांठ सब खुलकर सामने आ गई. देश ने देखा, सुप्रीम कोर्ट ने समझा फिर भी विपक्ष कुछ नहीं बोला. 12 बरस में दर्जनों मामले हैं हमारे सामने जहां सुप्रीम कोर्ट ने खुलकर सत्ता को बचाया. लेकिन यह भी पहचानिए कि विपक्ष की राजनीति हर बार सुप्रीम कोर्ट की साख को बचाने में ही लगी रही.

12 बरस में दर्जनों मामले हैं हमारे सामने जहां सुप्रीम कोर्ट ने खुलकर सत्ता को बचाया. लेकिन यह भी पहचानिए कि विपक्ष की राजनीति हर बार सुप्रीम कोर्ट की साख को बचाने में ही लगी रही

यह बात साबित हो गई कि पैगासस से सरकार जासूसी कर रही थी, उसके दायरे में सुप्रीम कोर्ट भी था. फिर भी सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि सरकार कह रही है हम सब कुछ नहीं बताएंगे, क्योंकि यह राष्ट्रीय सुरक्षा का मसला है. किसी ने सुप्रीम कोर्ट को फिर चुनौती नहीं दी.

जरा सोचिए, महाराष्ट्र! सुप्रीम कोर्ट का फैसला आया कि शिव सेना की सरकार गलत गिराई गई, राज्यपाल का रवैया गलत था, कार्यवाही गैरकानूनी थी, जो सरकार बनाई गई वह असंवैधानिक है. इतने के बाद भी जो सत्ता बन गई, वह चलती रहेगी, हम उसे बदल नहीं सकते. ज़रूरी लगे तो आप शेयर बाजार के घपले की याद कीजिए. सेवी ही शक व जांच के कठघरे में थी. सुप्रीम कोर्ट ने उसी सेबी को अपनी ही जांच के अधिकार दे दिए. 12 बरस में दर्जनों मामले हैं हमारे सामने जहां सुप्रीम कोर्ट ने खुलकर सत्ता को बचाया. लेकिन यह भी

पहचानिए कि विपक्ष की राजनीति हर बार सुप्रीम कोर्ट की साख को बचाने में ही लगी रही.

मीनाक्षी नटराजन के केस पर आ जाइए. सबको पता है कि जो हुआ वह सुनियोजित थे और रिटर्निंग ऑफिसर ने सारी गड़बड़ी की. फिर चुनाव आयोग ने अपने दरवाजे बंद कर लिए; सुप्रीम कोर्ट ने दखल देने से इंकार कर दिया.

अब आप न्याय के लिए कहां जाएंगे? देश में डेमोक्रेसी है, चुनाव सही व पारदर्शी हों, इसके लिए चुनाव आयोग है. चुनाव आयोग बनाया ही इसलिए गया है कि वह राजनीतिक दलों से, चुने हुए नुमाइंदों से लगातार संवाद करे ताकि कहीं कोई बात धुंधली न रह जाए. चुनाव आयोग ने बात सुनने-करने से मना कर दिया. जब उसकी इच्छी हुई तो अपने अधिकारों का जाप शुरू कर दिया. जनता के प्रतिनिधि और उनकी राजनीतिक पार्टी ही तो देश की चुनावी प्रक्रिया का आधार है. कहिए कि उन्हीं के ज़रिये देश में चुनाव चल रहे हैं. उनके ही मुंह पर चुनाव आयोग ने शटर गिरा दिया. अब आप किसी भी मुद्दे को लेकर इलेक्शन कमीशन क्यों जाएंगे?

सीबीआई को कोर्ट ने 'पिंजड़े में बंद तोता' तो कहा लेकिन उसे पिंजड़े से निकालने की बात कभी नहीं की

जो लोग गए थे सुप्रीम कोर्ट के दरवाजे पर, वे कौन थे? किसके प्रतिनिधि बन कर गए थे? सब जानते थे कि क्या हो रहा है, सब जानते थे कि फैसला क्या होगा. सत्ता के पक्ष में विपक्ष की भूमिका निभाने वाले, सामाजिक कार्यकर्ता बन कर सामने आने वाले, वकील बन कर आने वाले सब हैं कि जो बार-बार हर हालात को सत्ता के लिए नॉर्मल बनाने का काम करते हैं. सत्ता पर आंच ना आए, नागरिक कहीं खड़े ना हो जाएं! इसलिए कभी रिटायर्ड नौकरशाह खड़े हो जाते हैं, सेना के पुराने अधिकारी खड़े हो जाते हैं ताकि स्थिति को सामान्य करार दिया जाए. सीबीआई को कोर्ट ने उसे 'पिंजड़े में बंद तोता' तो कहा लेकिन उसे पिंजड़े से निकालने की बात कभी नहीं की.

इडी के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा खटखटाया गया. क्या मिला? कुछ भी तो नहीं! सुप्रीम कोर्ट ने साफ हाथ दिखा दियाः हम दखल कैसे दें? डांट देते हैं वे इडी को लेकिन रोक नहीं सकते. पहली बार हुआ कि इडी के चेयरमैन को लगातार एक्सटेंशन-पर-एक्सटेंशन दिया जाने लगा. इतनी हद हो गई कि सुप्रीम कोर्ट को आखिरकार आपत्ति कर पूछना पड़ा कि महाराज, किसी दूसरे को भी तो दीजिए! क्या पूरी नौकरशाही में एक ही व्यक्ति है? सरकार ने अपने तौर-तरीकों

से फिर अपना आदमी नियुक्त कर लिया. सुप्रीम कोर्ट ने मुंह फिरा लिया.

यही सरकार चुनाव आयुक्त नियुक्त कर रही है, यही इडी का चेयरमैन नियुक्त कर रही है. सीबीआई का किस्सा तो पुराना है. इसी सीबीआई के दफ्तर में, रात के 12 बजे, मोदीजी के इसी अमृत-काल में छापा किसने मरवाया था? उतनी रात में नेशनल सिक्यूरिटी वाले डोभाल साहब वहां क्या रह थे? सीबीआई के निदेशक व स्पेशल निदेशक के बीच कौन-सा मुद्दा फंस गया था? कैग क्यों नहीं अपनी रिपोर्ट अब दे पा रही है? अब उसकी रिपोर्ट क्यों संसद में पेश नहीं होती है? 12 साल से जिसकी कोई रिपोर्ट ही नहीं है उस कैग की नियुक्ति भी प्रधानमंत्री ही करते हैं.

यह पहली बार है कि विपक्ष का नेता कह रहा है कि अब छोड़िए इन सब चीजों को. अब प्रतिरोध की राजनीतिक होगी. इसका मतलब क्या है? इसका मतलब होता है खुले आसमान तले आना होगा. आपकी राजनीति खुली होगी- कोई पर्देदारी नहीं. उस राजनीति को करते वक्त आप नेता नहीं होंगे. जो राजनीतिक जमीन बंजर हो गई है, जो प्रक्रियाएं कुंद पड़ गई हैं, गठबंधन बेकार हो गए हैं, उन सबको आपको त्यागना होगा.

राहुल गांधी एक ऐसा ऑफर दे रहे हैं जिसे पढ़ते-सुनते-समझते इंडिया गंठबंधन के तमाम राजनीतिक दलों को नया होना पड़ेगा. तेजस्वी को 30-40% शक था चुनाव उनके हाथ से खींच लिया जाएगा. ममता बनर्जी कहती हैं कि हमें 50-60% प्रतिशत था. राहुल कहते हैं कि मुझे 100% पता था. उद्धव ठाकरे को भी 30-40% लगता था कि उनकी राजनीति हाइजैक हो सकती है; राहुल कहते हैं कि मुझे 100% पता था. वे कहते हैं कि आने वाला कोई भी चुनाव हो, 2029 तक की लकीर आप खींच लें कि जब आपको उत्तरप्रदेश में, पंजाब में, गोवा में, गुजरात में, हिमाचलप्रदेश में चुनाव लड़ने हैं. ऐसे सारे चुनावों के परिणाम पहले से तय हैं, अब आप क्या करेंगे?

सुरक्षा का वैसा कोई बंदोबस्त भी नहीं कि लोग कहें कि पहुंचे तो कैसे पहुंचे महात्मा गांधी तक! बापू तो खुद ही जनता के बीच पहुंच रहे थे

महात्मा गांधी को भारत के नियम-कानून बनानेवाली पार्लियामेंट पर भरोसा नहीं था. वे तो आजादी के पहले दिन ही यह समझ चुके थे. हैदरी-मंजिल के उस बंद अंधेरे कमरे में राजगोपालाचारी जब उनसे मिलने पहुंचे तो कहा कि बापू, आज आजादी का दिन है, रोशनी कर दूं क्या? बीबीसी व हिंदुस्तान टाइम्स के रिपोर्टर पहुंचे कि हमें एक इंटरव्यू तो दे दीजिए. उन्होंने दोनों को सीधा ही मना कर दिया.

वे समझ रहे थे कि उनकी कोई भी प्रतिक्रिया, उनका कैसा भी आकलन उस आजादी के संदर्भ में होगा जिसमें आजादी नहीं, पावर का ट्रांसफर भर हुआ है.

क्या अब राहुल गांधी भी यह समझ गए हैं कि उनकी कोई भी पहल उसी लोकतंत्र का हिस्सा बन जाएगी जो लोकतंत्र है ही नहीं? महात्मा गांधी किसी सुरक्षा के दायरे में नहीं थे. चाहे साबरमती याद कर लीजिए या वर्धा. उनके आश्रम सबके लिए खुले थे. आवाजाही हमेशा बनी ही रहती थी. उनका अपना जीवन कारों में बंद नहीं था. उनके साथ गाड़ियों का कोई रेला नहीं होता था. सुरक्षा का वैसा कोई बंदोबस्त भी नहीं कि लोग कहें कि पहुंचे तो कैसे पहुंचे महात्मा गांधी तक! बापू तो खुद ही जनता के बीच पहुंच रहे थे.

अगर संसद के गलियारों से निकलकर इस देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं के साथ जो हो रहा है, उसकी समझ जनता में पैदा की जा सके तो इस जड़ता को तोड़ा जा सकता है

आप क्षण भर के लिए भी मौजूदा वक्त से तब की तुलना करेंगे, तो तीन सवाल आपके जहन में रेंगने लगेंगे. मान लीजिए कि महात्मा गांधी की राजनीति को आपने अपना लिया, तो करेंगे क्या? गांधी पहली मांग करेंगे कि जो संसद आज संसद की भूमिका में नहीं है, जो कॉफी शॉप में तब्दील हो चुकी है, उसके सारे ताने-बाने को हिलाना पड़ेगा यानी मौजूदा संकट बिल्कुल नए तरीके से इंडिया गठबंधन के नेताओं को पार्लियामेंट से निकाल कर खुले आसमान तले ला खड़ा करेगा. क्या आपकी ऐसी तैयारी है? क्या ये नेता भ्रष्ट नहीं हैं; नहीं होंगे? इन्होंने जो भ्रष्टाचार अब तक किया है, जिसकी तैयार फाइल पीएमओ में पड़ी है, जो अब तक सबको डराती रही है, क्या ये लोग अब उस फाइल से नहीं डरेंगे?

राहुल गांधी ने अपने भाषण में जिस प्रतिरोध का जिक्र किया, विपक्ष को नई राजनीतिक में आने का आह्वान किया, क्या आने वाले वक्त में वे खुद इसमें रह पाएंगे? सब कुछ पुराना पड़ता जाएगा, लोग थकते जाएंगे. आज नहीं तो कल ये लोग डगमगाएंगे, लोगों का आक्रोश सत्ता पर होगा, वह संघर्ष करने निकलेगी, एक झटके में सत्ता बदल जाएगी और उनके हाथ में सत्ता की चाबी आ जाएगी, आज की ऐसी प्रचलित सोच गांधी के साथ काम आएगी नहीं. अगर गांधी की राजनीति संभव नहीं है, तो फिर किसी दूसरी राजनीति का कोई मतलब नहीं है.

राहुल गांधी इस हकीकत को अब तो समझ चुके हैं कि 12 बरस उन्होंने बर्बाद कर दिए. इस दौर के उनके मुद्दे और उनकी राजनीति ध्वस्त हो चुकी है.

उनको बार-बार अपना रास्ता बदलना पड़ा है, और फिर भी उन्हें कोई राजनीतिक जीत नहीं मिली. तो फिर बचा क्या? अगर संसद के गलियारों से निकलकर इस देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं के साथ जो हो रहा है, उसकी समझ जनता में पैदा की जा सके तो इस जड़ता को तोड़ा जा सकता है.

यही सवाल है जो मौजूदा वक्त में भारत की राजनीति को बदलने के लिए कुलबुला रहा है. अगर संसद के गलियारों से निकलकर इस देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं के साथ जो हो रहा है, उसकी समझ जनता में पैदा की जा सके तो इस जड़ता को तोड़ा जा सकता है. लोकतांत्रिक संस्थाओं में लोगों को जिस तरह भरा जा रहा है, उसे समझना जरूरी है. प्रशासनिक सेवाओं में वैसे अधिकारी भरे जा रहे हैं जिन्होंने यूपीएससी की परीक्षा भी पास नहीं की है. सरकार ने उनकी 'उपयोगिता' समझ ली, उसके हस्ताक्षर हो गए, प्रधानमंत्री कार्यालय ने हरी झंडी दे दी, बस एक झटके में उसे ज्वाइंट सेक्रेटरी के पद पर बैठा दिया गया. मौजूदा राजनीतिक सत्ता ने बता दिया है कि हमारा सत्ता में बने रहना ही इस देश के हित में है और आप सब देश हित में काम कर रहे हैं.

ऐसे सारे अधिकारियों को समझा दिया गया है कि आप हमारे कहने से जो भी काम करेंगे, वह देशहित में है — मात्र वही देशहित में है! अब वह इस देश का मुख्य चुनाव आयुक्त हो या इडी का निदेशक हो कि सीबीआई का डाइरेक्टर हो, कैग हो कि सीवीसी हो, न्यायपालिका में बैठे जजों की कतार हो, सरकार के कहे कामों को राष्ट्र का काम मान रही है. उसने न देखा है, न सोचा है, न उसे किसी ने समझाया है कि कहीं, कोई एक संविधान भी है जिसमें जनता को अधिकार मिले हैं, जिनकी रक्षा का दायित्व जजों का है. मौजूदा राजनीतिक सत्ता ने बता दिया है कि हमारा सत्ता में बने रहना ही इस देश के हित में है और आप सब देश हित में काम कर रहे हैं.

मौजूदा राजनीतिक सत्ता ने बता दिया है कि हमारा सत्ता में बने रहना ही इस देश के हित में है और आप सब देश हित में काम कर रहे हैं

इसलिए एक डरावना सवाल दूसरा उठता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि इस दौर में जो भी गलत या संविधान के बाहर जा कर काम कर रहा है, वह यह मान रहा है कि यही राष्ट्रहित है? मसलन हमारा चुनाव आयोग यही मान कर सारे धत्कर्म कर रहा है कि यही देशहित में है! चुनाव का मतलब क्या होता है, वोट का मतलब क्या होता है, इवीएम मशीनों में गड़बड़ियों का मतलब क्या होता है; अभी 'सर' में लाखों मतदाता काटे जा रहे हैं तो अलग-अलग राज्यों में इसका

अलग-अलग मतलब क्या है, ऐसे सारे सवालों से इन सबने अगर किनारा कर लिया है, तब एक क्षण के लिए सोचिए कि अगर विपक्ष की पूरी राजनीति राहुल के रास्ते पर गई तो आमना-सामना कैसा होगा? लोग बनाम सरकार हो जाएगा. क्या प्रधानमंत्री खेमे में इस संभावना को लेकर खलबली है?मीडिया का बिजनेस मॉडल और सरकार का बिजनेस मॉडल आज एक हो गया है. जब सारे संस्थानों की सरकार-निर्भरता समान हो जाए, तो लोकतंत्र के हिस्से में बचता क्या है?

मीडिया का बिजनेस मॉडल और सरकार का बिजनेस मॉडल आज एक हो गया है. जब सारे संस्थानों की सरकार-निर्भरता समान हो जाए, तो लोकतं त्र के हिस्से में बचता क्या है?

अब तक प्रधानमंत्री देश को यह बता पा रहे थे कि विपक्ष भले कहता है कि यह लोकतांत्रिक संरचना नहीं है, इसके बाद भी वह इसी संरचना को हथियाने की लड़ाई लड़ता है. अब यदि राहुल गांधी की चली तो देश का यह राजनीतिक विमर्श ही बदल जाएगा. पहली बार राहुल गांधी कह रहे हैं कि इस विमर्श में हम शामिल नहीं हैं: यहां से हटिए, इसे छोड़िए, इससे आगे निकलिए. वे कह रहे हैं कि आप सुप्रीम कोर्ट जाएंगे, तो आपको वहां न्याय नहीं मिलेगा; चुनाव आयोग जाएंगे तो आपकी बात सुनी नहीं जाएगी; जांच एजेंसियां आपको हर तरह से फंसाएंगी. आप डरेंगे, हिचकेंगे, आपके अनुकूल चीजें नहीं होंगी. आप टीवी की बहसों में जा कर बैठ जाएंगे और अपनी बात कहने लगेंगे तो आपको निरर्थकता व अपमान का बोध होगा, क्योंकि वहां सामने एंकर नाम का जो आदमी बैठा है वह आदमी या उसका संस्थान उसी सरकार पर निर्भर है जिसकी आलोचना आप करना चाहते हैं. मीडिया का बिजनेस मॉडल और सरकार का बिजनेस मॉडल आज एक हो गया है. जब सारे संस्थानों की सरकार-निर्भरता समान हो जाए, तो लोकतंत्र के हिस्से में बचता क्या है? तो अगला सवाल यही है कि अब देश में कोई संपादक बचा है कि जिसकी विश्वसनीयता बची है? जजों की बची है? मुख्य चुनाव आयुक्त को कोई आज चुनाव आयोग का मुख्य मानता है? इडी प्रमुख की कोई पहचान बची है? सीबीआई डायरेक्टर डायरेक्ट कुछ करता भी है, ऐसा कौन मानता है आज? विश्वविद्यालयों के वाइसचांसलर, बड़े-बड़े संस्थानों के बड़े-बड़े लोग इतने बौने रह गए हैं कि अब कोई उन्हें गिनती में भी नहीं लेता है.

फिर आखिरी सवाल वही रह जाता है कि क्या राहुल गांधी इस पूरी राजनीति को बदलने की दिशा में हर किसी को साथ ले सकेंगे, ले कर चल सकेंगे? सत्ता घबरा रही है कि अगर ऐसा हो गया तो उनका कॉफी हाउस, जिसे

लोकतंत्र का मंदिर कहते हैं, लोकसभा कहते हैं उसकी गरिमा का क्या होगा? लेकिन वे सोचते नहीं हैं कि जब हर किसी की विश्वसनीयता शून्य बना देंगे आप तो संस्थानों की विश्वसनीयता कैसे बनी रह सकती है?

फिर एक सवाल. विपक्ष के वे तमाम नेता, जिनमें कांग्रेस का नेतृत्व भी शामिल है, जिन्होंने एक दौर में सत्ता की ताकत को देखी है, उसका पूरा उपयोग और उपभोग कर चुके हैं, क्या वे राहुल की दिशा कबूल करेंगे याकि सब मिलकर राहुल गांधी को ही खारिज करने में जुट जाएंगे?

देश उस राजनीतिक व्यवस्था का गुलाम बन चुका है जिसके पास अपने लिए सुविधा और रियायत बटोरने की राजनीति के अलावा कुछ भी बचा नहीं है; और ये ही आत्मकेंद्रित राजनेता चुनावी लोकतंत्र के खिलाड़ी भी हैं. ये नहीं चाहते हैं कि कोई नया खिलाड़ी मैदान में उतरे या कोई नई हवा लोकतंत्र के आंगन में बहे. इन्हें वह 'आइडिया ऑफ इंडिया' बहुत डरावना लगता है जिसे महात्मा गांधी ने संवारा व इस देश के मन में पिरोया. मौजूदा सियासत ने उसी ताने-बाने को तोड़ कर, कभी चुनाव ना हारने वाली सत्ता स्थापित कर ली. इसलिए हम भी समझें और राहुल भी कि अब जो बदलना है वह व्यवस्था बदलनी है और वह बदलेगी तो सरकार तो बदल ही जाएगी.

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार व प्रमुख यू-टयूबर हैं.)

*

इतिहास ऐसे लोगों के उदाहरणों से भरा पड़ा है
जो आत्मविश्वास व दृढ़ता से समाज का नेतृत्व कर सके.

● महात्मा गांधी

सवाल का सवाल यह है

० त्रिभुवन

कहते हैं कि नॉर्वे में भारत की बड़ी भद्द उड़ी! सारी दुनिया ने सवालों से डर कर छिपते-बचते व अंततः भागते भारतीय प्रधानमंत्री को देखा. पत्रकार व नेता का रिश्ता कभी मित्रता का नहीं होता है, होना भी नहीं चाहिए. नेता व पत्रकार के रिश्ते के बीच आ जाती है कलम; वह कलम यदि खड़ी रहने की टेक लेकर बैठी हो तब नेता व पत्रकार दोनों को अपना धर्म तय करना पड़ता है

अच्छा राजनेता किसी सवाल से असहज नहीं होता. वह जानता है कि लोकतंत्र में सवाल अपमान नहीं, अवसर है. सवाल बाउंसर हो सकता है, यॉर्कर हो सकता है, तेज इनस्विंगर हो सकता है लेकिन कुशल बल्लेबाज उसे अपने हेलमेट पर नहीं लगने देता. वह नीचे झुकता है, गेंद छोड़ता है या कभी-कभी उसी गेंद को मिड विकेट के ऊपर से सिक्सर में बदल देता है. राजनीति में भी यही गुण किसी नेता को राजनेता से कूटनीतिज्ञ बनाता है.

जो नेता कठिन सवाल से बचता है, वह सत्ता में भले हो, नेता भर ही हो सकता है, जो कठिन सवाल को जवाब देने की कला में, हास्य-विवेक और लोकतांत्रिक आत्मविश्वास में बदल देता है, वह राजनेता होता है. राजनेता को टेलीप्रॉम्प्टर नहीं, विकेट-बुभुक्षु गेंदबाज के सामने खड़े सिद्ध बल्लेबाज जैसी प्रत्युत्पन्नमति चाहिए, जो सवालिया गेंद की रफ्तार से नहीं डरता, सीम उधेड़ देने वाला सिक्सर निकालने में माहिर होता है.

हेले ल्यूंग ने नॉर्वे में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से पूछा कि वे दुनिया की सबसे स्वतंत्र प्रेस से सवाल क्यों नहीं लेते? इस प्रश्न पर भारत में जो हंगामा हुआ, उससे

अधिक रोचक यह जानना है कि एक कुशल नेता ऐसे प्रश्न को कैसे संभालता. कुशल नेता मुस्कराकर कह सकता थाः 'आप पूछिए. भारत का लोकतंत्र भी उतना ही आत्मविश्वासी है जितना आपके नॉर्वे में है.' या वह कह सकता थाः 'प्रेस की स्वतंत्रता पर हमारे अपने तर्क हैं, आपके अपने. सवाल पूछना आपका अधिकार है, उत्तर देना या न देना मेरा सर्वाधिकार है.' इतिहास बताता है कि बड़े नेता सवालों से भागते नहीं, उन्हें भाषा का उत्सव बना देते हैं.

एक मुस्कुराहट के साथ इतना भर जवाब पूरे विवाद को बदल देता. वही प्रश्न, जो आलोचना बनकर उठा था, जवाब पाकर राजनयिक गरिमा में बदल सकता था. पर जब प्रश्न के बजाय प्रश्नकर्ता को निशाना बनाया जाता है, तब नेतृत्व नहीं, असुरक्षा दिखाई देती है. एक बार पाकिस्तान यात्रा के दौरान एक महिला ने वाजपेयी से मजाक में कहा कि वह उनसे शादी करना चाहती है, पर मुंह दिखाई में कश्मीर चाहिए. वाजपेयी ने उसी क्षण जवाब दियाः 'मैं शादी को तैयार हूं, पर दहेज में पूरा पाकिस्तान चाहिए.'

इस किस्से की लोकप्रियता इसलिए नहीं है कि उसमें केवल हास्य था, इसलिए है कि उसमें हास्य के भीतर राष्ट्रीय रुख, कूटनीतिक संयम और लाजवाब होने की रश्क पैदा करती बिजली एक साथ थी. कठिन प्रश्न आया लेकिन नेता ने उसे टकराव नहीं बनने दिया, उसे स्मृति बना दिया.

इतिहास बताता है कि बड़े नेता सवालों से भागते नहीं, उन्हें भाषा का उत्सव बना देते हैं

यही कला जवाहरलाल नेहरू की प्रेस-वार्ताओं में भी दिखाई देती थी. नेहरू प्रश्नों से घिरे रहते थे. वे कभी-कभी चिढ़ते भी थे, लेकिन भागते नहीं थे. 1958 की एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में जब उनसे शिखर सम्मेलन के बारे में एक उलझा हुआ सवाल पूछा गया तो उन्होंने हल्के विनोद में कहाः ' शिखर तो अभी बादलों में छिप गया है. इन दिनों मानसून का मौसम है.' यह उत्तर केवल मजाक नहीं था. राजनायक अनिश्चितता में फंसने की जगह यह ऐसी कला थी जिसमें उत्तर भी है और मुस्कान भी. नेहरू की राजनीति से किसी की असहमति हो सकती है लेकिन प्रेस से संवाद करने की उनकी सहजता लोकतंत्र की एक बुनियादी संस्कृति थी. प्रेस को केवल तभी तक स्वतंत्र मानना जब तक वह सत्ता की प्रशंसा करे, यह बात वैसी ही है जैसे केवल धूप में छाता खोलना और बारिश आते ही उसे बंद करके घर भूल जाना.

वाजपेयी ने 2001 में अंतरराष्ट्रीय प्रेस संस्थान की कांग्रेस में कहा था कि प्रेस या तो स्वतंत्र होती है या उसे प्रेस कहा ही नहीं जा सकता है. यह वाक्य

भारतीय लोकतंत्र की गहरी समझ से निकला था.

दिवंगत पूर्व केंद्रीय मंत्री प्रमोद महाजन का 11 अप्रैल 1997 का लोकसभा का भाषण इसी परंपरा का बेजोड़ उदाहरण है. उन्होंने चीन गए भारतीय संसदीय प्रतिनिधिमंडल का किस्सा सुनाते हुए कहा कि उन्होंने चीनी सांसदों से अपना परिचय कराया: 'मैं प्रमोद महाजन हूं. भारत की लोकसभा का सदस्य हूं. मेरी पार्टी सदन की सबसे बड़ी पार्टी है और मैं विपक्ष में हूं.' उनकी बात सुन कर चीनी प्रतिनिधि चकित रह गए. महाजन ने आगे बताया कि दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बाहर से सरकार का समर्थन कर रही है और एक-दो सांसदों वाली पार्टियां सत्ता में हैं. यह भाषण केवल गठबंधन राजनीति पर व्यंग्य नहीं था, यह भारतीय लोकतंत्र की विचित्रता को रोचक, बौद्धिक और हास्यपूर्ण भाषा में समझाने की कला थी. लोकतंत्र की उलझन को क्रोध से नहीं, विनोद से बोलना भी नेतृत्व है.

प्रेस को केवल तभी तक स्वतंत्र मानना जब तक वह सत्ता की प्रशंसा करे, यह बात वैसी ही है जैसे केवल धूप में छाता खोलना और बारिश आते ही उसे बंद करके घर भूल जाना

दुनिया की राजनीति में रोनाल्ड रीगन का 1984 का उदाहरण भी इसी श्रेणी में आता है. उम्र को लेकर उन पर सवाल था कि क्या वे बहुत बूढ़े हो चुके हैं? रीगन ने जवाब दिया: 'मैं उम्र को इस अभियान का मुद्दा नहीं बनाऊंगा. मैं राजनीतिक लाभ के लिए अपने प्रतिद्वंद्वी की युवावस्था और अनुभवहीनता का इस्तेमाल नहीं करूंगा.' पूरा हॉल हंस पड़ा. उम्र रीगन के लिए एक कमजोर बिंदु था. रीगन ने उसे लासानी जवाब में बदल दिया और रसदार जवाब को राजनीतिक ताकत में बहलना, मुश्किल गेंद को सिक्सर में बदलना है.

नरेंद्र मोदी ने भी 2023 में संयुक्त प्रेस कॉन्फ्रेंस के दौरान अल्पसंख्यकों के अधिकारों और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पूछे गए एक सवाल का जवाब देते हुए कहा था कि भारत और अमरीका दोनों के डीएनए में लोकतंत्र है. भारत में जाति, पंथ या धर्म के आधार पर भेदभाव का कोई स्थान नहीं है. इस उत्तर से सहमति-असहमति अलग प्रश्न है लेकिन यह दिखलाता है कि कठिन प्रश्न का उत्तर भी दिया जा सकता है. सवाल को 'साजिश' कहकर छोड़ा नहीं गया, उसे लोकतंत्र, संविधान और विकास की भाषा में ढालने की कोशिश की गई. पत्रकार सत्ता का शत्रु नहीं, जम्हूरियत के जुगराफिए का जरूरी मील-पत्थर है.

यही राजनीतिक कौशल है: सवाल हटाना नहीं, सवाल को अपने फ्रेम में

उत्तरित करना. ट्रोलरों के कारण नरेंद्र मोदी को जितना शर्मसार होना पड़ा, उतना विरोधियों के कारण नहीं. कुशल नेता प्रश्न को निजी अपमान नहीं मानता. वह समझता है कि पत्रकार सत्ता का शत्रु नहीं, जम्हूरियत के जुगराफिए का जरूरी मील-पत्थर है. पत्रकार का सवाल कभी असुविधाजनक होगा, कभी असभ्य भी लगेगा, कभी उसमें पूर्वाग्रह भी होगा. लेकिन नेता का स्तर सवाल के स्तर से नहीं, उत्तर के स्तर से तय होता है.

छोटे नेता सवालों में षड्षंत्र खोजते हैं, बड़े नेता सवालों में अवसर खोजते हैं. छोटे नेता पूछने वाले की जाति, धर्म, देश, लिंग, कपड़े, फॉलोअर और अतीत में उतर जाते हैं, बड़े नेता प्रश्न के केंद्र में जाते हैं और वहीं से अपनी राजनीति की रोशनी निकालते हैं.

आज की भारतीय पत्रकारिता और राजनीति की यही सबसे बड़ी त्रासदी है : सवाल पूछने वाले पर हमला! उसे विदेशी, एजेंट, पेड, प्लांटेड, एंटी-नेशनल, लिबरल, वामपंथी, पाकिस्तानी या कुछ भी घोषित कर देना आसान है. कठिन काम है लाजवाब कर देने वाला उत्तर देना. और उससे भी कठिन काम है उत्तर देते हुए लोकतंत्र की गरिमा को बचाए रखना. ऊपर के कुछ किस्सों का यही मूल सूत्र है कि भारतीय और विश्व राजनीति के कई यादगार क्षण इसीलिए बचे हुए हैं, क्योंकि नेताओं ने मुश्किल सवालों को अपनी भाषा, विनोद और बौद्धिकता की अद्वितीय खूबियों से पलट दिया.

पत्रकार सत्ता का शत्रु नहीं, जम्हूरियत के जुगराफिए का जरूरी मील-पत्थर है

राजनीति मूलतः जवाबदेही ही नहीं, हाजिरजवाबी की भी कला है. जो सत्ता में है, उसे सवालों की धूप में खड़ा होना ही पड़ेगा फिर वह चाहे प्रधानमंत्री हो, मुख्यमंत्री हो, कुलपति हो या कोई बड़ा संपादक. सवाल से बचकर कोई लोकतांत्रिक वैभव नहीं बनता. सिंहासन की ऊंचाई से नहीं, उत्तर की ऊंचाई से नेता बड़ा होता है.

अगर पत्रकार पूछेः 'आप प्रेस से सवाल क्यों नहीं लेते?' तो यह राजनेता के लिए संकट नहीं, अवसर है. वह कह सकता है, 'क्योंकि मैं देने में विश्वास करता हूं; आप कहें तो आज से लेना शुरू कर देता हूं.' यह एक वाक्य पूरी कथा बदल सकता है. आखिर दोनों के रिश्तों की बुनियाद इसी पर तो टिकी है. अच्छे राजनेता और अच्छे पत्रकार के बीच संबंध प्रतिद्वंद्विता का नहीं, तनावपूर्ण सम्मान का होता है. पत्रकार पूछता है, क्योंकि वह नागरिक की ओर से खड़ा है; राजनेता जवाब देता है, क्योंकि वह राज्य की ओर से जिम्मेदार है.

दरअसल सवाल का डर सत्ता को नहीं, उसके आसपास पल रहे चाटुकारों को अधिक होता है. नेता कई बार प्रश्न झेल सकता है, दरबारी नहीं झेल पाते. उन्हें लगता है कि एक प्रश्न से साम्राज्य कांप जाएगा. वे तुरंत प्रश्नकर्ता पर टूट पड़ते हैं. वे उसकी तस्वीरें खोजते हैं, उसकी निजी जिंदगी खंगालते हैं, उसके पुराने संबंध गिनते हैं, उसके फॉलोअर नापते हैं. यह सब देखकर लगता है कि सवाल नेता से नहीं, दरबार से पूछा गया था; और दरबार जानता है कि उसका अस्तित्व प्रश्नों पर नहीं, मौन पर टिका है.

अच्छे राजनेता और अच्छे पत्रकार के बीच संबंध प्रतिद्वंद्विता का नहीं, तनावपूर्ण सम्मान का होता है. पत्रकार पूछता है, क्योंकि वह नागरिक की ओर से खड़ा है; राजनेता जवाब देता है, क्योंकि वह राज्य की ओर से जिम्मेदार है. दोनों के बीच निरंतर की यह रस्साकशी लोकतंत्र को ताकत देने वाला प्रोटीन बनाती है. जिस लोकतंत्र में पत्रकार केवल जयकार करे और नेता केवल भाषण, उस लोकतंत्र में जनता धीरे-धीरे दर्शक बन जाती है. जहां पत्रकार सवाल पूछता है और नेता उत्तर देता है, वहां नागरिक उपस्थित रहता है, लोकतंत्र की नई कोंपले उसे और भी छायादार बनाती हैं. हेले का सवाल जितना नॉर्वे का था, उतना ही भारत की परीक्षा का भी था. किसी भी बड़े राजनेता के लिए कठिन सवाल अपमान नहीं, बल्लेबाजी का मौका होता है. आखिर मंटगुमरी जेल में फैज अहमद 'फैज' ने ऐसे तो नहीं लिखा थाः 'जिस धज से कोई मकतल में गया, वो शान सलामत रहती है.'

*

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं.)

जीवन एक नृत्य है और उस नृत्य
का सजग साक्षी बनना जीवन है.

● अमित रे (एक आध्यत्मिक चिंतक)

सवाल

हम आपकी शपथ पर विश्वास करना चाहते हैं

○ मौलाना महमूद असद मदनी

बंगाल का चुनाव जीतने के बाद नये मुख्यमंत्री सुवेंदु अधिकारी ने घोषणा की कि वे सिर्फ हिंदुओं के लिए काम करेंगे. उससे पहले उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री ने कहा ही था कि उन्हें मुसलमान वोट की जरूरत ही नहीं है. यह कैसा लोकतंत्र बना रहे हैं हम कि जिसमें नागरिकों में इस आधार पर भेद करने की घोषणा की जा रही है कि वे किस धर्म के हैं? क्या इसे घृणा का प्रचार नहीं कहा जाएगा

मैं आपसे स्पष्ट और निष्कपट संवाद करना चाहता हूं.

जब मैंने पहली बार सुना कि सुवेंदु अधिकारी ने मुख्यमंत्री बनने के बाद केवल हिंदुओं के लिए काम करने की बात कही है, तो मेरी प्रतिक्रिया वही थी जो इस देश के किसी भी ऐसे नागरिक की हो सकती है, जो भारत की बहुलतावादी परंपरा और उसकी साझी विरासत में विश्वास रखता है. मन में पीड़ा हुई, चिंता भी हुई. यह पीड़ा किसी व्यक्तिगत अपमान या आहत अहंकार से नहीं थी; यह उस गहरी बेचैनी का परिणाम थी जो वर्षों से हमारे समाज में बढ़ती दूरियों को देखते हुए मेरे भीतर जमा होती रही है. जिन समुदायों ने कभी पड़ोसी और सहयात्री की तरह जीवन जिया था, उनका धीरे-धीरे, एक-दूसरे से दूर जाना और एक-दूसरे को संदेह की नजर से देखना दुखद है. अब बराबर मुझे ऐसा लगता है कि इस सरकार को सुशासन का कोई रास्ता खोजने से अधिक लाभ विभाजनकारी राजनीति खड़ा करने में दिखाई देता है.

यह भाव मन में आया लेकिन मैंने तुरंत ही स्वयं को रोका : क्या केवल प्रतिक्रिया देना पर्याप्त है? क्या आक्रोश का उत्तर आक्रोश से देना किसी समस्या

का समाधान है? सार्वजनिक जीवन के लंबे अनुभव ने मुझे यह सिखाया है कि उत्तेजना से प्रायः अधिक उत्तेजना ही पैदा होती है. इससे उन लोगों का भला नहीं होता है जो पहले ही असुरक्षा, उपेक्षा और अन्याय का सामना कर रहे हैं. इसलिए मैंने निश्चय किया कि मैं प्रतिक्रिया देने की जगह संवाद बनाने का मार्ग अपनाऊं.

जिन समुदायों ने कभी पड़ोसी और सहयात्री की तरह जीवन जिया था, उनका धीरे-धीरे, एक-दूसरे से दूर जाना और एक-दूसरे को संदेह की नजर से देखना दुखद है

सुवेंदु अधिकारीजी, मैं आपको बताना चाहता हूं कि मैं वास्तव में सोचता क्या हूं. 9 मई को आपने पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ग्रहण की. उस अवसर पर आपने संविधान के प्रति निष्ठा रखने, भारत की एकता और अखंडता की रक्षा करने तथा निष्पक्ष भाव से अपने कर्तव्यों के निर्वहन की प्रतिज्ञा की. आपने यह भी कहा कि आप संविधान और कानून के अनुसार 'सभी प्रकार के लोगों' के प्रति न्याय करेंगे. मैं आपका ध्यान खास तौर पर इन शब्दों की तरफ खींचना चाहता हूं सभी प्रकार के लोगों के प्रति! मेरी समझ से इसका मतलब यह हुआ कि न केवल हिंदुओं के प्रति और न केवल उनके प्रति जिन्होंने आपको वोट दिया है बल्कि उन सभी लोगों के प्रति जो पश्चिम बंगाल के नागरिक हैं. यही आपकी शपथ थी ईश्वर को साक्षी रखकर, संविधान और जनता के समक्ष! इसलिए मैं आपकी उसी प्रतिज्ञा पर विश्वास करना चाहता हूं.

भारतीय राजनीति में लंबे समय से यह अवधारण जगह बनाती रही है कि शासन का उद्देश्य सभी को साथ लेकर चलना होना चाहिए विकास किसी एक समुदाय या वर्ग का विशेषाधिकार नहीं हो सकता है. यदि मात्र यही एक अवधारणा व्यवहार में उतर जाए, तो उसका लाभ संपूर्ण भारतीय समाज के प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचेगा. यदि आप कहते हैं कि आप हिंदुओं के लिए काम करेंगे, तो मैं कहता हूंः जरूर कीजिए - पूरे समर्पण और गंभीरता के साथ कीजिए. आप हुगली नदी को स्वच्छ बनाइए, क्योंकि उसका प्रदूषण किसी धर्म का भेद नहीं कर सबको बीमार बना रहा है. ऐसे विद्यालय बनाइए जहां बंगाल का प्रत्येक बच्चा बेहतर शिक्षा प्राप्त कर सके. मुर्शिदाबाद, मालदा और पुरुलिया जैसे पिछड़े जिलों में सड़कों, अस्पतालों और आधारभूत सुविधाओं का विस्तार कीजिए. ऐसा निवेश आकर्षित कीजिए जो वास्तविक रोजगार पैदा करे, कोरी घोषणाएं नहीं. किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाइए. छोटे व्यापारियों और उद्यमियों को सम्मानपूर्वक

आगे बढ़ने का अवसर दीजिए.

मैं मानता हूं कि यदि विकास वास्तव में होता है, तो उसका लाभ स्वाभाविक रूप से समाज के बहुसंख्यक हिंदुओं तक भी पहुंचेगा. यदि विकास मंदिर और मस्जिद के द्वार तक पहुंचकर समाप्त हो जाता है, तो वह किसी के काम का नहीं होगा. स्वच्छ वायु यह नहीं पूछती कि उसे सांस में भरने वाला किस धर्म का है; पेयजल किसी नागरिक की आस्था का परीक्षा नहीं करता है. एक सार्वजनिक अस्पताल का दरवाजा उस हर व्यक्ति के लिए खुला होना चाहिए जो उपचार की आशा लेकर वहां पहुंचता है.

हम यह अपेक्षा नहीं करते हैं कि आप मुसलमानों के लिए विशेष रूप से काम करें. हम चाहते इतना ही हैं कि आप बंगाल के लिए काम करें. यदि आप बंगाल के लिए ईमानदारी से काम करेंगे, तो उसका लाभ बंगाल के सभी लोगों को मिलेगा

इतना कहने के बाद भी एक प्रश्न बचा रह जाता है जिसे पूछना आवश्यक है. यदि कोई व्यक्ति संविधान के प्रति निष्ठा की शपथ लेने के कुछ ही समय बाद यह सार्वजनिक घोषणा करे कि वह केवल एक समुदाय की सेवा करेगा, तो उस शपथ का वास्तविक अर्थ क्या रह जाता है? क्या संवैधानिक शपथ एक औपचारिक अनुष्ठान भर है या फिर वह सार्वजनिक जीवन के लिए कोई नैतिक और कानूनी दायित्व भी निर्धारित करता है? मैं यह प्रश्न टकराव की किसी भावना से नहीं पूछ रहा हूं. इसलिए पूछ रहा हूं, क्योंकि लोकतंत्र की आत्मा इसी प्रश्न में छिपी है. संविधान केवल एक पुस्तक नहीं है, हमारे सामूहिक जीवन व व्यवहार का आधार है. यदि उसकी शपथ केवल शाब्दिक बन कर रह जाए, तो लोकतांत्रिक व्यवस्था की विश्वसनीयता कहां टिकेगी?

संविधान केवल एक पुस्तक नहीं है, हमारे सामूहिक जीवन व व्यवहार का आधार है. यदि उसकी शपथ केवल शाब्दिक बन कर रह जाए, तो लोकतांत्रिक व्यवस्था की विश्वसनीयता कहां टिकेगी?

नहीं, मैं यह सब किसी भावावेश में बह कर नहीं लिख रहा हूं. मेरी चिंता हमारे समाज के भविष्य और उन मूल्यों में से पैदा हुई है जिन्होंने हमें एक राष्ट्र के रूप में अब तक जोड़े रखा है. उत्तेजना से अधिक उत्तेजना ही पैदा होती है; एक का आक्रोश दूसरे के आक्रोश को जन्म देता है. इसका लाभ किसी को नहीं मिलता न हिंदुओं को, न मुसलमानों को. मैं आपको याद दिलाना चाहता हूं कि जब इतिहास ने हम भारतीयों के सामने विभाजन और बहुलता के बीच चुनाव

की चुनौती रखी थी, तब करोड़ों लोगों ने एक ऐसे भारत को चुना था जिसमें विभिन्न धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों के लोग साथ-साथ रह सकें. उन्होंने यह फैसला किसी मजबूरी में नहीं लिया था, बल्कि इसके पीछे वह एक गहरा नैतिक विश्वास था कि जो कहता था कि इस देश में नागरिकता हमेशा धर्म से ऊपर रहेगी. वह विश्वास आज भी जीवित है. कोई एक चुनावी विजय उसे बदल नहीं सकती है.

जिन समुदायों ने कभी पड़ोसी और सहयात्री की तरह जीवन जिया था, उनका धीरे-धीरे, एक-दूसरे से दूर जाना और एक-दूसरे को संदेह की नजर से देखना दुखद है

माननीय मुख्यमंत्रीजी, अब समय शब्दों का नहीं, शासन का है. शासन कीजिए ईमानदारी से; शासन कीजिए संवैधानिक मर्यादाओं के भीतर; शासन कीजिए बंगाल के सभी लोगों के लिए. इतिहास किसी नेता का मूल्यांकन अंततः उसके भाषणों से नहीं, उसके शासन और उसके द्वारा निभाई गई शपथ से करता है. इस लोकतंत्र के हम नागरिक, धैर्य और सजगता के साथ आपकी प्रत्येक घोषणा और प्रत्येक निर्णय को शपथ की इसी कसौटी पर परखते रहेंगे.

(लेखक जामियत-उलेमा-ए हिंद के प्रमुख हैं.)

*

''एक अत्याचारी शासक के लिए जरूरी है कि वह जाहिर तौर पर धर्म में असाधारण आस्था दिखाए. जनता एक ऐसे शासक के दुर्व्यवहार के प्रति कम सचेत होती है, जिसे वह ईश्वर से डरने वाला और पवित्र मानती है. वह आसानी से ऐसे शासक के विरोध में नहीं जाती है, क्योंकि उसे विश्वास दिला दिया जाता है कि देवता भी उसके साथ हैं''

अरस्तू ने यह कहा था जिसे भगत सिंह ने अपनी डायरी में दर्ज कर रखा था.

सच सदियों का सफर तय कर के भी सच ही बना रहता है.

पत्र

प्रिय भाई राजनाथ सिंहजी,

अखबारों में छपे आपके बयान के संदर्भ में यह पत्र लिख रही हूं.

भारत को हमेशा शांति का प्रसार करने वाला राष्ट्र बने रहना चाहिए, न कि उसकी आकांक्षा 20-30 वर्षों में हथियारों का सबसे बड़ा सौदागर बनने की होनी चाहिए.

हम तो हमेशा से शांति के सिपाही रहे हैं. 2500 साल से ज्यादा हुए कि महात्मा बुद्ध ने सारी मानवता को करुणा का संदेश दिया था. कलिंग के विनाश की पीड़ा ने महान अशोक को इतना द्रवित किया था कि वे न केवल बौद्ध-धर्म की तरफ मुड़े बल्कि अपनी बेटी संघमित्रा व बेटे महेंद्र को बुद्ध का करुणा-संदेश विश्व में पहुंचाने के मिशन पर भेज दिया. इतनी दूर न जाएं तो महात्मा गांधी को याद करें कि जिन्होंने हमारे वर्तमान में अहिंसा की अपनी शक्ति से उस विशाल साम्राज्य को झुका दिया. आज संयुक्त राष्ट्र संघ उनके जन्मदिन को 'अहिंसा दिवस' के रूप में मनाता है. इंग्लैंड की वार रेसिस्टर्स इंटरनेशनल ऐसी संस्था है जिसके लोगों ने 'युद्ध से इंकार करो' कि अपनी शपथ के कारण बड़े कष्ट झेले हैं, फिर भी युद्ध व अनिवार्य फौजी भर्ती के खिलाफ डटे रहे हैं. तो मैं कहना यह चाहती हूं कि हमारा महान देश अपनी इस वैभवशाली विरासत से विमुख हो कर, हथियारों का सबसे बड़ा विक्रेता बनने के विनाशकारी जाल में न फंसे.

युद्ध का मतलब ही होता है - हथियार! यह ठीक है कि हमें अपनी सीमाओं की सुरक्षा करनी है और जो इसके लिए जिम्मेवार हैं, उन्हें इसका सबसे अच्छा रास्ता खोजना है. लेकिन हथियारों का धंधा हमारा ध्येय कभी नहीं होना चाहिए. ऐसी सतही घोषणाएं करने से हमारे नेताओं को बाज आना चाहिए.

सादर, डॉ. संतोष गोइंदी

गांधी-मार्ग का जनवरी-फरवरी 2026 का अंक खोलते ही नजर पड़ी हरिभूषण सिंह के लेख पर जो एटनबरो की गांधी फिल्म की बात करती है. लेख छोटा ही है लेकिन उसने गांधी फिल्म के प्रति मेरी जिज्ञासा इतनी बढ़ाई कि मैं 8 ऑस्कर अवार्ड जीतने वाली इस फिल्म की खोज में लग गया. कल मैंने फिल्म देखी. मैं सचमुच अभिभूत हूं. फिल्म ने कितने ही नये नजरिये से इस आदमी को देखने की खिड़कियां खोल दीं. गांधी-मार्ग देखने में छोटी है पर कितना बड़ा खजाना समेट लाती है.

● आयुष कुमार, जोधपुर (राजस्थान)

विदाई

दुश्मनी जम के करो लेकिन ये गुंजाइश रहे
जब कभी हम दोस्त बन जाएं तो शर्मिंदा न हों.

चरागों को आंखों में महफूज रखना
बड़ी दूर तक रात ही रात होगी

मोहब्बतों में दिखावे की दोस्ती न मिला
अगर गले नहीं मिलता तो हाथ भी न मिला



बशीर बद्र : 15 फरवरी 1935–28 मई 2026

हमने अपने दौर के सबसे सहज व मानवीय भावों से लबरेज शायर को अलविदा कहा है. बशीर बद्र अब नहीं हैं- हम थोड़े से और खाली, थोड़े से और उथले बच गए हैं.

घरों पे नाम थे नामों के साथ ओहदे थे
बहुत तलाश किया कोई आदमी न मिला

खुदा हमको ऐसी खुदाई न दे
कि अपने सिवा कुछ दिखाई न दे

तमाम रिश्तों को मैं घर पे छोड़ आया था
फिर उस के बाद मुझे कोई अजनबी न मिला

हम तो दरिया हैं हमें अपना हुनर मालूम है
जिस तरफ भी चल पड़ेंगे रास्ता हो जाएगा

शाम के बाद बच्चों से कैसे मिलूं
अब मेरे पास कोई कहानी नहीं

कांति बहनः हम सबकी प्रिय कांति दीदी (ओदी) का हृदयाघात से, 89 वर्ष की आयु में 3 जून 2026 को लक्ष्मी आश्रम, कौसानी में देहांत हुआ. कांति दीदी, राधा दीदी की बहन होने के साथ-साथ एक समर्पित गांधीजन व रचनात्मक कार्यकर्ता थीं. उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन पहाड़ी समाज, बालिकाओं की शिक्षा, पर्यावरण व जल-संरक्षण, ग्राम स्वावलंबन तथा बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए समर्पित किया था. मितभाषी, मधुर व्यवहार से ओतप्रोत सादगीपूर्ण जीवन, कर्मनिष्ठा और रचनात्मक कार्य उनकी पहचान थे. राधा दीदी ने भावुक स्वर में कहाः ''कांति मुझसे छोटी थी, लेकिन कठिन-से-कठिन समय में वह मेरी छाया बनकर साथ खड़ी रही. अब सोचती हूं कि छाया छोड़ कर चली जाए तो मनुष्य बगैर छाया के कैसे रहे!'' कौसानी आश्रम कांति बहन को खो कर गहरे शोक में है. डेविड भाई के निधन के बाद यह दूसरा बड़ा आघात है जिसने पूरे आश्रम परिवार को झकझोर दिया है.

● संजय सिंघा

वीना और विजय हांडा : काका कालेलकर द्वारा स्थापित दिल्ली की हमारी सहयोगी संस्था सन्निधि में एक विरल जोड़ी थी - वीना हांडा और विजय हांडा. सन्निधि की रचनात्मक गतिविधि में यह जोड़ी हमेशा सक्रिय रहती थी. वीनाजी ने सन्निधि के सचिव का महत्वपूर्ण दायित्व भी निभाया. इनका घर और हृदय सदैव सभी के लिए खुला रहता था. इधर उम्र ने दोनों को कमजोर व धीमा बना दिया था लेकिन वे अपनी सारी शक्ति जोड़ कर अपने काम में लगे रहते थे. फिर वीनाजी को कैंसर हुआ और 80 वर्ष की उम्र में, 15 अप्रैल 2026 को उनका देहांत हुआ. विजयजी इस विछोह के बाद कुछ अनमने-से हो चले थे. फिर भी वे हर कहीं पहुंचने व अपनी भूमिका अदा करने को तैयार रहते थे. लेकिन 12 जून 2026 को उन्होंने भी हमसे विदा मांग ली. एक सार्थक जोड़ी का जीवन सफर पूरा हुआ.

*

टिप्पणी

खौलते समुद्र में पिकनिक

हर देश खौल रहा है. खौलती दुनिया में कुछ लोग ऐसा चाहते हैं कि उनके आसपास के लोग बेचैन रहें और वे चैन का एक द्वीप बनाकर, उस पर बंसी बजाएं. चैन का ऐसा द्वीप कत्तई कायम नहीं रहेगा.

रोज सुबह का अखबार कितनी ही हत्या या बलात्कार से रंगा रहता है. मासूम बच्चियों के साथ बलात्कार और फिर उनकी हत्या! हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसमें ठग और लुटेरे संसद में घुस कर महिला सुरक्षा के लिए बिल लाते हैं. वे जानते हैं कि यह बिल गिर जाएगा, उनकी योजना भी इसी की है. गिर जाएगा तो फिर वे सारे देश में हल्ला मचाएंगे कि हम हैं महिलाओं के चैंपियन, हालांकि उनकी पार्टी में हत्यारे भी हैं, बलात्कारी भी.

ट्रंप पर गोली चले, यह कोई अच्छा संकेत नहीं देता है. लेकिन ट्रंप हर दिन जैसी भाषा का इस्तेमाल करते है, लोगों में जैसी उत्तेजना भरते हैं, वही गोलियों को आमंत्रण देती है. वे जिस बेशर्मी से वेनेजुएला के राष्ट्रपति का अपहरण करते हैं, ईरानी बच्चे - बच्चियों की हत्या करते रत्ती भर झिझकते नहीं हैं, वह दुनिया में हिंसक वातावरण रचता है.

भारत में धार्मिकों की बाढ़ आ गई है. मंदिरों की स्थापना की रफ्तार सेटेलाइट की रफ्तार से होड़ कर रही है. कदम-कदम पर भगवान उग आए हैं. नेता स्कूलों-कॉलेजों या अपने निर्वाचन क्षेत्रों का दौरा नहीं करते, चंदन-टीका लगाकर मंदिर पहुंच जाते हैं. वोट तो मंदिरों में ही है न! ऊंगलियों में राजनेता पत्थर ऐसे पहनते मानो उन्हें जनता नहीं, पत्थर जितवाते हैं.

मैंने गांधी पर प्रवचन देते ऐसे दो लोगों को देखा है जो पत्थर धारण किए हुए थे. जिन्हें खुद पर भरोसा नहीं है, वे गांधी पर क्या भरोसा करेंगे! वे तो गांधी की इतनी-सी बात भी नहीं समझते हैं कि पत्थर लगाइए या चंदन टीका, काल-चबेना तो हर को बनना ही है. भारत में धर्म कभी भी वह नहीं रहा जो महज किताबों में बंद है. भारत का धर्म तो हर कोने-कंतरे में जीता व सांस लेता है. आजकल जिस धर्म का बल्ले-बल्ले हो रहा है, वह भारतीय संस्कृति की पैदावार नहीं है.

जिन युवाओं को सिर पर कफन बांध कर अन्याय के खिलाफ लड़ना था, वे सिर पर चंदन लभेर कर अन्याय के पक्ष में आसमान गुंजा रहे हैं - कपड़े धर्म के और मन स्वार्थ, घृणा और हिंसा में आकंठ डूबा हुआ! कबीर ने ठीक ही कहा : 'मन ना रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा / आसन मारि मंदिर में बैठे / ब्रह्म-छांड़ि पूजन लागे पथरा.' दुनिया का नेतृत्व जहां, जिनके हाथों में है, उनसे कोई उम्मीद नहीं. सत्ता लोगों को हिंसा की संगठित ट्रेनिंग दे रही है; बलात्कारियों को पाल-पोस कर उनका अभिनंदन कर रही है.

इस अंधकार में रोशनी किधर से आएगी? उसी मतदाता की तरफ से आएगी जिसका वोट छीना गया है. उसकी मतदाता की हैसियत चुनाव आयोग छीन सकता है, नागरिक की उसकी भूमिका तो अक्षुण्ण है. नागरिक ही रोशनी का अंतिम अध्याय लिखेगा.

● डॉक्टर योगेंद्र

रजिस्टर्ड नं.–4545/57

